युग-पुरुष

लेखक
कमलापति त्रिपाठी शास्त्री एम० एल० ए०
सदस्य भारतीय विधान-परिषद
प्रधान सम्पादक "संसार", काशी

प्रकाशक
सरस्वती मन्दिर
जतनवर, बनारस

१९४८]

[मूल्य २)

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत लेख बापू के जीवन-काल में ही लिखे गये थे और समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों में बापू के विचारों का स्पष्टीकरण तथा उनके सिद्धांतों की समीक्षा की गयी है। इन विचारों का जनता में प्रचार होना इस समय, जब गांधी जी हमारे बीच नहीं रहे, और भी आवश्यक हो गया है। इसी दृष्टि से इनका संकलन तथा प्रकाशन किया जा रहा है। गांधी जी के विचारों को समझने के लिये पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। लेख ज्यों के त्यों छापे गये हैं, यद्यपि गांधी जी अब नहीं रहे और लेखों में समयानुसार परिवर्तन अपेक्षित था। परिवर्तन इसलिये नहीं किया गया कि लेखों से यह स्पष्ट होता है कि उनके जीवन-काल में ही उनके विचारों का महत्व तथा उनकी गम्भीरता समझी गयी थी। लेखक ने इन लेखों के सङ्कलन और प्रकाशन की अनुमति कृपा करके प्रदान की, जिसके लिये मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

प्रकाशक—

अनुक्रमणिका
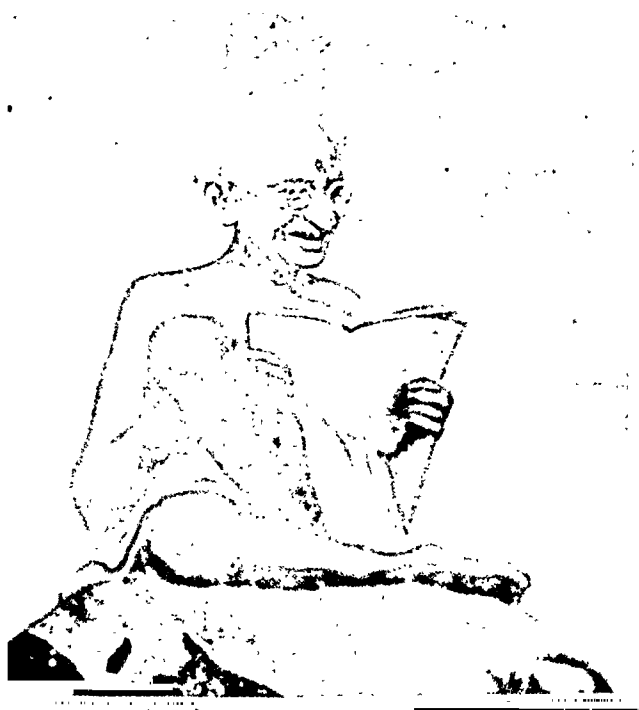
युग-पुरुष

बापूका अध्ययन

बापूका अवतार भारतकी प्राचीन शृंखलाकी एक उज्ज्वल कड़ी है। इस देशको यदि महान् आत्माओंको उत्पन्न करनेकी अलौकिक क्षमता सदासे प्रकृति द्वारा न मिली होती तो कदाचित् यह उस महाप्राण मानवको जन्म न दे सकता जिसकी चरण-रजसे आज वसुधा पवित्र हुई है। बापू भारतमें अलौकिक प्रतिभा लेकर आये, आत्माका असीम आलोक और मनुष्यताकी अनिर्वचनीय आभाके प्रतीक होकर आये। वह आये इस देशके त्राता बनकर और दलित तथा पराभूत भारतीय राष्ट्रके उत्थानका पथ प्रशस्त करते हुए समस्त मानवजातिके सम्मुख प्रकाशमय आदर्शकी स्थापना करनेमें सफल हो गये। क्या वह केवल भारतकेही निर्माता हैं ? क्या उनका कार्यक्षेत्र इसी देशकी सीमामें आबद्ध रह गया ? इसका उत्तर कौन नहीं दे सकता ! बापूका कोई शत्रु तो है ही नहीं। उसे न समझनेवालोंकी भीड़ छोटी नहीं है और

जो उसे नहीं समझते, जो उसके विरोधी हैं, जिनकी संकुचित स्वार्थपरता पर उसकी उज्ज्वलता आघात करके उनके स्वार्थको चोट पहुँचाती है, वे भी उक्त प्रश्नोंका उत्तर जानते हैं। वे जानते हैं कि बापूका लक्ष्य मनुष्यताके लिए सात्विक पथका निर्माण करना रहा है और उस लोकोत्तर महापुरुषने भारतको लक्ष्यकी पूर्तिका साधन बनाया। वह आया केवल भारतके लिएही नहीं प्रत्युत विमर्दित, दलित और दुःखी धरित्रीका उद्धार करनेके लिए और आया उन समस्त तत्त्वोंको लिये हुए जिनके अभावमें आज मनुष्यता क्षतविक्षत, खूनसे लथपथ, रौंदी हुई धरतीपर पड़ी सिसक रही है। उस व्यक्तिको धरतीपर सजीव अभिव्यक्त करने-का श्रेय जिस तिथि और जिस भूमिको प्राप्त हुआ वह धन्य है क्योंकि उसका स्मरण और उसका स्पर्श करके हम पवित्र हो जाते हैं।

प्रकृतिका गूढ़ रहस्य

ऐसे ही बापूके प्रति आज हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने बैठे हैं। बापूका भौतिक शरीर इस क्षण हमसे दूर है पर उसके व्यक्तित्वकी छाप भला कैसे दूर रह सकती है? जिस व्यक्तिने गत तीस वर्षोंसे इस राष्ट्रके प्रत्येक प्राणीको अनुप्राणित किया, जिसने भारतके एक-एक रजकणमें गति और चेतना भर दी है, जिसने सुषुप्त भारतकी मूर्छित आत्माको जाग्रत कर दिया है और जिसने इस देशके गौरवमय अतीतकी समस्त पवित्रता, उच्चता और प्रकाशको अपने द्वारा अभिव्यक्त किया है उस व्यक्तिकी छायासे इस देशका अणु-परमाणु भी तो अछूता नहीं रह सकता। बापूने नवभारतका निर्माण किया, उसके लिए नये इतिहासकी स्थापना की और नये युगका प्रवर्तन किया। अनन्त कालप्रवाहमें

मानव समाज बढ़ता हुआ कभी विकास और कभी पतनकी लहरोंसे लपटता रहा है। पर मानवजातिमें कोई अंतः प्रेरणा है जो उसे समस्त बाधाओं और भयावने आवर्तों से पार करती रही है। समय-समयपर मनुष्यताने विकासकी ओर यात्रा की और समय-समयपर स्वयं ठोकरें खाकर धराशायी हुई। समय आया जब वह फिर उठी और विकासके अनंत पथपर अग्रसर हो चली। गतिमती मानवता कभी एक स्थिति अथवा अवस्थामें रह नहीं सकती थी। यदि उसकी अवस्था समान रही होती तो मनुष्य मनुष्य भी न हुआ होता। साम्यावस्था प्रलयकी अवस्था होती है जिसमें जीवनके चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। गति जीवनका ही दूसरा नाम है और मनुष्यता गतिशील होनेसे ही सजीव रही है। जब गति है तो कभी स्थिति एक नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि स्थितिमें परिवर्तनके साथ साथ समाजकी धाराएँ बदलती हैं, उसकी दृष्टि बदलती है, उसकी आवश्यकताएँ बदलती हैं। इसी स्थिति परिवर्तनको, मनुष्यताकी इस विकास यात्राको आप युगान्तरका नाम देते हैं। युग बदलता है। अवस्था बदलती है समाजके आदर्श और उसकी कल्पना बदलती जाती है। आगत नवयुगकी नयी पुकार नयी ध्वनि लहरियोंके साथ समस्त दिशाओंमें प्रतिध्वनित होती है। कालात्माकी इस पुकारको समय समयपर अभिव्यक्त करनेवाली महती प्रतिभा-संपन्ना विभूतियाँ संभूत हो जाती हैं। क्यों होती हैं और कैसे होती हैं, यह प्रकृतिका गूढ़ रहस्य है जिसका उत्तर कोई दे नहीं सकता। पर वास्तविकता यही है कि विशेष अवसरोंपर जब मनुष्यताको जीवन-रक्षाके लिए तथा विकास-पथपर बढ़ चलनेके लिए विशेष प्रकारकी आवश्यकताओंकी अनुभूति होती है और उस अनुभूतिके प्रभावसे सारा जीवन-प्रवाह आकुल तथा आंदोलित हो जाता है

तो युद्धका प्रतिबिंब बनकर और युगकी पुकार लेकर उद्दीप्त आत्माएँ धरातलका स्पर्श करती हैं। ऐसी ही विभूतियाँ युगपुरुषके रूपमें इतिहासके पृष्ठोंको सुशोभित करनेमें समर्थ होती हैं।

युगपुरुषकी महत्ता

बापू ऐसाही युगपुरुष होकर आया। युगका प्रतिनिधित्व करनेवाला व्यक्ति अनिवार्यत: और स्वभावत: जीवनके मूलका, समाजकी आत्माका स्पर्श करता है और अपने स्पर्श मात्रसे उसकी समस्त आंतरिक प्रवृत्तियोंको उज्जीवित और झंकृत कर देता है। बापू वही प्रतिभा लेकर आये। फिर क्यों न वह देशके कण-कणको संजीवित कर देते। देशने उनमें अपनी आकांक्षा और भावना, आवश्यकता और कल्पनाकी अभिव्यक्ति देखी। अत: बापू द्वारा उसका आमूल प्रभावित होना अनिवार्य था। बापूने भी कैसा सर्वांगीण, समीचीन और व्यापक प्रभाव डाला! वे दूर हैं पर गांधी द्वारा प्रवर्तित युगकी धारा समस्त राष्ट्रीय चेतनाको आलोड़ित करती रहती है। गांधीयुगका प्रभाव राष्ट्रीय जीवनके किस अंगपर नहीं पड़ा? हमारी भावना, दृष्टि, कल्पना, हमारे आदर्श और व्यवहार, हमारे विश्वास और हमारी आस्था, हमारे संस्कार और परम्परा, हमारे धर्म, हमारी राजनीति, हमारी संस्कृति और हमारी समाजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारा जीवन-व्यापार, हमारा साहित्य और हमारी कला, हमारी अनुभूति और हमारी विचार-सरणी, हमारे रहन-सहन और हमारी वेशभूषा, सबपर इस व्यक्तिकी अमिट छाप पड़ी हुई है। कोई अध्ययन करे गांधीयुग द्वारा प्रभावित भारतके जीवनका और देखे एक समस्त राष्ट्र आपादमस्तक और आसमुद्र-हिमाचल, सारी भारत-भू गांधीके व्यक्तित्वसे प्रभावित है। गांधी स्वयं

व्यक्ति ही नहीं रह गया, उसके रूपमें राष्ट्रकी चेतना और जागरण, उसका उत्थान और उसकी यात्रा, उसका आदर्श और उसका लक्ष्य, उसका पथ और उसका प्रयोग व्यक्त हुआ। फिर ऐसे व्यक्तिका जिसके व्यक्तित्वकी छाप ब्रह्मलोककी भांति राष्ट्रके मानस-पटलपर अंकित हो गयी हो, भौतिक शरीर यदि दूर भी हो तो भावात्मक अंश हमारे हृदय में प्रतिष्ठित रहेगा ही। व्यक्तिके व्यक्तित्वके विषयमें कोई क्या कह सकता है! उसका व्यक्तित्व किसी साधारण अथवा विभूतिसम्पन्न मनुष्य मात्रका व्यक्तित्व नहीं है। वह विराट है क्योंकि महान् मानवजातिके विशाल जीवनकी असीम तथा सहस्रोंकी भावनाओंके अनेक पहलुओंको लेकर विकीर्ण हुआ है। गांधीके व्यक्तित्वके न जाने कितने व्यूह हैं जो अपने-अपने क्षेत्रमें अति उत्तुंग बिंदुका स्पर्श करते हैं। ऐसे व्यक्तित्वका अध्ययन करना क्या साधारण बात है?

गांधीको जिस दिशामें, जिस दृष्टिसे और जिस रूपमें देखिये, उसीमें वह महान्, अति महान् और इतना ऊँचा दिखाई देता है कि हमारा ससीम दृष्टिपथ वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। गांधी युगपुरुष है, युग प्रवर्त्तक है, युगका प्रतीक है। पर क्या यों ही उसके व्यक्तित्वकी सीमा समाप्त हो जाती है? क्या वह केवल इतना ही है? सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन कीजिये और आप देखेंगे कि इनके सिवा उसके व्यक्तित्वके अधिक दूसरे रूप दृष्टिगोचर होते हैं। गांधी भक्त है। वह ज्ञानी है। वह संत और तपस्वी है। वह नैतिकताका पुजारी और धर्मका पोषक है। वह दार्शनिक और मनीषी है। वह राजनीतिक नेता है। वह सामाजिक क्रांतिका प्रवर्त्तक है। वह दूरदर्शी राष्ट्रनायक है। वह योद्धा और विद्रोही है। वह प्रगति और विकासका मूर्त-

अनवरत संघर्ष क्या बिना किसी प्रयोजनके है? उसने देखा कि विश्वका विकास हुआ, प्राणिजगत्‌का विकास हुआ, स्वयं पशुता भी मनुष्यताके रूपमें आविर्भूत हुई। क्या यही प्रकृति किसी प्रयोजनकी ओर संकेत नहीं कर रही है? बापूकी दृष्टिमें यह भास उठा कि जीवन और जगत्‌का प्रवाह एक निश्चित दिशाकी ओर है। मनुष्यता पशुतापर, प्रकाश अन्धकारपर, सत्य असत्यपर विजय प्राप्त करे और विजयके द्वारा जीवन परम लक्ष्यकी अनुभूति करे—यही रहा है इतिहासका पथ, यही रही है जीवनकी धारा और यही रहा है जगत्‌का अनवरत, अबाध द्वन्द्वात्मक संघर्ष। असत्यपर सत्यकी विजय, अनीतिपर नीतिकी विजय, अन्धकारपर प्रकाशकी विजय, और अज्ञानपर ज्ञानकी विजय, यह प्रकृति अटल नैतिक विधान है जिसे कार्यान्वित करनेमें जीवनकी सत्प्रयोजनता है। विश्वका हेतु भी यही है कि असत्यपर सत्यकी सत्ता स्थापित हो और चेतन इसकी अनुभूति करके अनंत विकासकी अनंत यात्रामें अग्रसर होता चले। यह प्रयोजन जिस व्यक्तिकी दृष्टिमें भासित हो चुका हो उसके आदर्श और उसके प्रयोगकी कल्पना सहजमें ही की जा सकती है। बापू भक्त है क्योंकि वह सर्वत्र एक चेतनधाराको सृष्टिके मूलमें स्थित और जीवनको सिंचित करते देखता है, वह भक्त है क्योंकि उसे सत्यकी ही सत्ता ऐकान्तिक और अक्षुण्ण दिखाई देती है। वह संत और तपस्वी है क्योंकि उसकी दार्शनिक दृष्टिमें जीवनकी एकमात्र साधना सत्यकी विजयके हेतु अकुण्ठित गतिसे बढ़ते जाना है। वह मानता है कि अन्धकारकी सत्ता भी है। पर उसका प्रकाश द्वारा पराजित होना प्रकृतिका अटल विधान है क्योंकि ऐसा न होना प्रगति और विकासके मूल लक्ष्यको ही अस्वीकार कर देना है।

बापूका सारा दृष्टिपथ इसी आलोकसे आलोकित है और उसका सारा जीवनपट इन्हीं भावोंमें अंकित है। उसकी दृष्टिमें वे सभी भाव, प्रवृत्तियाँ तथा उपकरण त्याज्य हैं जो जीवनको सत्यसे विपथ करते हैं। वह मानता है कि प्रगतिका सच्चा रूप आधुनिक विश्वकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं हुआ। प्रगति और विकास आखिर किस दिशाका नाम है। मनुष्यके जीवनमें जड़ता है, पशुता है, 'अहं' की उपासना है और अहंकी संतृप्तिकी महती कामना है। पर क्या ये भाव नैसर्गिक होते हुए भी केवल पाशविक नहीं हैं? यदि ये सत्य होते तो मनुष्य पशु ही रह गया होता। जिस क्षण पशुताने पशु-भावको छोड़कर मानवी उज्ज्वलताकी ओर पग बढ़ाया उसी क्षण वह प्राणी इन नैसर्गिक भावों और प्रकृतियोंसे ऊँचे उठा। पशुको अहंके सिवा दूसरी अनुभूति नहीं होती। अहं उसके समस्त जीवन-चक्रका केन्द्र-बिन्दु है। उसकी संतृप्ति ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। मनुष्य—वही पशु—मनुष्य हुआ क्योंकि अहंसे ऊँचे उठा। परानुभूति, सहानुभूति, संवेदना, जीवनकी उस प्रवृत्तिकी द्योतिका है जो अहंसे ऊँचे उठनेकी ओर उन्मुख रहती है। मनुष्यता उसी उन्मुखताका नाम है। जीवनकी धारा यदि उस ओर न बही होती तो मनुष्य पशु ही रह गया होता। प्रगति और विकासका यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वह यही है कि मानवजीवन अहंकी सीमाका अतिक्रमण पदे-पदे करता हुआ और उत्तरोत्तर अहंकी सत्ताको मिटाता हुआ उस बिन्दुपर पहुँच जाय जहाँ उसका लय विराटमें हो जाता है। यही वास्तविक प्रगति है, यही सच्चा विकास है। इसी ओर जीवनका उन्मुख होना धर्म है और इसीकी सिद्धि जीवनकी साधना है। यही है वह प्रयोजन जिसे प्रकृतिने जीवनके संमुख स्थापित

किया है। बापू इसी प्रगति और इसी विकासका पुजारी है। वह योद्धा है और समय आनेपर बिना संकोचके संघर्षमें रत हो जाता है। पर उसका संघर्ष किसके विरुद्ध है? वह किसी राजसत्ताके, किसी व्यक्ति विशेषके, किसी वर्ग या समुदायके, किसी सम्प्रदाय या समूहके विरुद्ध नहीं है। वह संघर्ष करता है उन भावोंके विरुद्ध जो जीवनको विकास-यात्रासे विमुख करते हैं। वह संघर्ष करता अहं और अंहंकारके विरुद्ध, मिथ्याभिमान और स्वार्थपरताके विरुद्ध, अन्याय और आसक्तिके विरुद्ध क्योंकि ये दुष्प्रवृत्तियाँ प्रकृतिके प्रयोजन और उसके नैतिक विधानके विरुद्ध प्रेरित करती हैं। ब्रिटेनके साम्राज्यवाद, दुर्बलोंके दलन और शोषण, शस्त्र और पशु शक्तिसे किसीकी स्वतन्त्रतासे अपहरण, जातिगत श्रेष्ठता और रंगभेदमें उसे उन्हीं पशुभावोंकी घृणित प्रबलता दिखाई देती है। अतः बापूने सदा उसके विरुद्ध युद्ध किया। वह विप्लवी है और उसका विप्लव भी किसी साधारण राजव्यवस्थाको पलटने मात्रके लिए नहीं है किंतु उसका विप्लव है इसलिए कि मनुष्यकी मनुष्यता जाग्रत हो और वह पशु राज्य उलट-पुलट जाय जो मनुष्यद्वारा स्व और अहंकारकी पूजामें मनुष्यताका हनन कराता है। वह विप्लवकी आग लगाता है उसी पशुताको भस्म कर देनेके लिए जिसमें मनुष्य तथा पशु स्वयं नष्ट नहीं—मुक्त हो जाता है।

बापूकी राजनीति और अर्थनीति, उसकी समाजनीति और सांस्कृतिक दृष्टि, उसकी नैतिक दृष्टि और धार्मिक भाव, उसकी दार्शनिकता और विचारधारा, उसका पथ और प्रयोग, उसका कार्यक्रम और उसकी योजना सब इसी मौलिक धारणापर आश्रित है। इस धारणाको लेकर वह जीवन-पथपर अग्रसर होता है। उसकी आस्था अटल है—विश्वके प्रयोजनमें विश्वास ध्रुव है।

फलतः जगतकी कोई वस्तु उसे पथसे डिगा नहीं सकती । संसार-का कोई आकर्षण, कोई प्रलोभन, कोई बाधा, कोई शक्ति समर्थ नहीं है जो बापूको लक्ष्यसे भ्रष्ट कर दे । सत्यकी डोरी पकड़े वह चलता है इसकी चिन्ता भी नहीं करता कि उसके साथ कोई दूसरा आता है अथवा नहीं । वह चलेगा, निर्बाध-गतिसे चलेगा और आवश्यक होगा तो अकेला चलता चला जायगा । उसमें न आसक्ति है, न विफलता और सफलताका उद्वेलन । यदि गिरता है तो भी चिन्ता नहीं करता क्योंकि उसका विश्वास है कि उसे पुनः उसी ओर जाना है जिधर वह जा रहा था । वह चलता है अपने अहंके स्वरोंको ढहाता हुआ और भौतिकताके बन्धनोंको छिन्न-भिन्न करता हुआ । अपनी कलुषतासे सजग दुर्बलतासे परिचित आगे बढ़ता चला जा रहा है । जा रहा है उस दिशाकी ओर जहाँ जीवन विराट्में लय हो जाता है । शारीरिक और भौतिक अनुभूतियोंसे ऊँचे उठकर देहको विदेहत्व में परिणत कर देनेकी कामना लिये हुए यह ज्ञानी अपने इष्टकी साधनामें सम्पूर्ण आत्म-निवेदन किये हुए दिखाई दे रहा है । कैसे इसके व्यक्तित्वका अध्ययन करें । बुद्धि तो वहाँ तक पहुँचती ही नहीं । अनुभूतियाँ भी कहीं बीचमें ही कुंठित हो जाती हैं । उसका उज्ज्वल आलोक स्तब्ध और अभिभूत कर देता है । जो उसे नहीं समझते वे उसकी अहिंसापर हँसते हैं, उसके चर्खे और खादीका मजाक उड़ाते हैं, उसकी नैतिक दृष्टिको धार्मिक कहकर राजनीतिके लिए घातक बताते हैं, उसके आध्यात्मिक और अलौकिक भावोंको दकियानूसी तथा पोंगापन्थी घोषित करते हैं । ऐसे महानुभावोंसे क्या निवेदन किया जाय ? जिन्हें वैभव, लोभ, कायपूजा और भोगकी तृप्ति में प्रगति दिखाई देती है, जो अनास्था, अविश्वास और अश्रद्धाको स्वतन्त्र चिन्तन और विकासकी संज्ञा प्रदान करते हैं, जो जड़, भौतिक और

असत्य तथा भ्रामक दृश्य जगतके पार किसी भावलोककी बात सुनकर तिलमिला उठते हैं और जो जीवनके लोककी बात सुनकर तिलमिला उठते हैं और जीवनके लोभ तथा उसकी अस्थिर तथा क्षणिक मोहकताके रसको ही सत्य समझते हैं, उनके लिए गांधीको समझना भला कैसे सम्भव हो सकता है? उसकी अहिंसाको समझना तो और भी कठिन होगा क्योंकि इसी शब्दमें उसने अपनी समस्त दार्शनिक और नैतिक विचारधारा केन्द्रीभूत कर दी है। गांधीजीकी अहिंसा केवल हिंसा न करने तक ही सीमित नहीं है। उसकी अहिंसाकी कल्पना भी उसके व्यक्तित्वके समान ही विराट् है। उसकी दृष्टिमें वे समस्त प्रवृत्तियाँ और वे सभी भाव हिंसात्मक हैं जो मनुष्यके पाशवांशके द्योतक तथा उसके पोषक हैं। संकुचित स्वार्थपरता, इन्द्रिय-लिप्सा, अविवेकपूर्ण भोग प्रवृत्ति, अपने आपको श्रेष्ठ समझनेकी भावना, सभी गांधीकी दृष्टिमें हिंसात्मक हैं। ये असत्य और अनैतिक हैं क्योंकि मनुष्यका पशुताकी ओर प्रत्यावर्तन करानेवाली हैं। गांधीजीकी अहिंसाका अर्थ है अहंसे ऊँचे उठना और अपने समस्त अहंभावको उसके सारे उपसर्गोंके सहित विलुप्त कर देना। अहं मिट जाय तो विभु-अमूर्त और असीम आत्मा विराट्के साथ तादात्म्य प्राप्त करे। यह है उसकी अहिंसाकी कल्पना। अहंसे ही राग, उस रागसे द्वेष, द्वेषसे क्रोध, क्रोधसे घृणा, घृणासे हिंसा, हिंसासे पशुता, पशुतासे पतन—यह है वह शृंखला और कुचक्र जिससे जीवनको ऊँचे ले जाना गांधीकी अहिंसाकी कल्पनाका अर्थ है। जो अपनेको जगत्के समस्त प्राणिमात्रके लिए, विश्वकी तमाम सत्ताओंके लिए लय कर देनेपर उतारू हो, जो अपनेमें सबकी अनुभूति करना चाहता हो, उसके लिए निर्वैरकी लहरियोंपर लहराते बढ़े चला जाना अनिवार्य है।

बापू उसी साधनामें रत है। फिर अहिंसाके सिवा उसके पास दूसरी कल्पना टिक ही कैसे सकती है? उसको अहिंसा सत्यका, प्रकाशका, ज्ञानका, नैतिकताका, साधनाका, तपका, संयमका, उत्सर्गका, सेवाका, समर्पणका पर्याय है। अहिंसाके इस विराट् स्वरूपको देखिये। वह सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए असत्यकी सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि असत्यका सेवक सफल पुजारी नहीं हो सकता। मलके निराकरणके लिए मलका लेप एक गन्दगीको भले ही दूर कर दे पर उसके स्थानपर दूसरेकी प्रतिष्ठा अवश्यंभावी है। फिर मानवताके लिए, मनुष्यको देवत्व-की ओर उत्प्रेरित करनेके लिए बापू मनुष्यको मानवी और दैवी-पथपर न ले जाय तो किधर ले जाय? जो इतना नहीं समझते उन्हें समझाना ब्रह्माकी शक्तिके परे है।

महती विभूति

बापूके जीवन और उनके पथ तथा प्रयोगका अध्ययन करना साधारण काम नहीं है। यह वही कर सकता है जो स्वयं साधक होकर साधनाके पथमें प्रवृत्त हो। हमारी संकुचित दृष्टिने उन्हें जिस रूपमें देखा वह रूप भी इतना विशाल, इतना प्रभावपूर्ण और इतना उन्नायक है कि हम उसीसे अपनेको धन्य बना सकते हैं। समय-समयपर मनुष्यताके कल्याणके लिए, उसका पथ-प्रदर्शन करनेके लिए मानव जातिने महती विभूतियोंको जन्म दिया है। बापू वैसी ही विभूतियों में हैं जो सहस्राब्दियों में कभी-कभी अवतरित होकर धरतीको पावन प्रदान कर जाती हैं। हम बापूकी तुलना विश्वका पथ-प्रदर्शन करनेवाले महान व्यक्तियोंसे करनेकी धृष्टता नहीं करते। बुद्ध, ना, महावीर और शंकर सभी बड़े हैं। हम इतना ही कह

सकते हैं कि गांधी भी उसी मालिकाकी एक प्रकाशमयी मनिया हैं। राजनीतिक नेताओं और जननायकोंसे उसकी तुलना क्या करें। कौन ऐसा है जो इसके मुकाविलेमें, उसकी उच्चता और महत्ताके सामने, टिक सकें ? क्या स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी-से उसकी तुलना की जा सकती है—जिनके हाथ मानवरक्तसे रंगे हुए हैं ? जगतके इतिहासमें क्या कोई भी ऐसा नेता मिल सकता है जिसने केवल उँगलियोंके इशारेसे कोटि-कोटि नर-नारियोंके जीवनका प्रवाह बदल दिया ? इतिहासके पत्रोंमें कहीं ऐसा विद्रोही, ऐसा योद्धा, ऐसा जननायक, ऐसा रणनायक ढूँढ़ तो निकालिए, जिसने विना शस्त्र उठाये केवल सत्यके वल और आत्म ओजसे पशुतापर प्रतिष्ठित उस महती साम्राज्य शक्तिके वलको विचूर्ण कर डाला हो जिसकी विजयके डंकेसे जगतकी दिशाएँ प्रतिध्वनित थीं। खोजिये ऐसे व्यक्तिको जिसमें युद्ध और विद्रोह, संघर्ष और प्रतिरोधको रक्त, कटुता, द्वेष और हिंसासे पृथक रखकर उच्च दैवी धारा तक पहुँचा दिया। कौन है जो दूरसे भी उसके निकट पहुँचता है ? लेनिनका प्रयोग रूसमें हुआ वह सफल भी हुआ और विफल भी। पर दोनोंमें उसे रक्तावगाहन करके ही आगे बढ़ना पड़ा। सामूहिक कृषिकी स्थापनाके लिए स्टालिनने यह प्रयोग आरम्भ किया तो दस लाख तुर्कोंको तलवारके घाट उतार दिया। इतनी हत्याके वाद उन्होंने एक फर्मान द्वारा यह घोषणा कर दी कि सामूहिक खेतीके लिए जो अत्यधिक प्रयास किया गया वह गलत था। दसलाखके संहारके वाद प्रयोगको गलत कर दिया ! पर वापूका प्रयोग इससे भिन्न है। वह प्रयोगके यज्ञकी रचना करता है। स्वयं प्रथमाहुति अपनी डालता है और फिर वह प्रयोग करता है जिसमें विनाशके लिए स्थान नहीं होता पर रचनाका पट

खुलता चलता है। उसका प्रयोग ऐसा है जो विफल हो गया तो
हानि करनेके सिवा उत्कृष्ट और उद्दीप्त उत्सर्गका आदर्श तथा
प्रमाण उपस्थित करता है और यदि सफल हो गया तो मनुष्य-
ताके लिए वह नया पथ और वह नयी दिशा प्रदान करता है
जिसपर चलकर वह देवतातक पहुँच जाय।

इसीसे हम कहते हैं कि इस व्यक्तिका व्यक्तित्व विराट् है
जिसे बुद्धिकी तुलापर तौलना अथवा विचार-दृष्टिकी परिधिमें
समेटना सम्भव नहीं है। आज वह महापुरुष एकाकी है क्योंकि
पशुतासे आच्छन्न धरित्रीपर उसकी एक अकेली आवाज है
जो समस्त मानवजातिको भयावने खतरेसे आगाह कर रही है।
मोहाच्छन्न मानव अज्ञानमें पड़ा हुआ भी ज्ञानी होनेका दम्भ
रचता हुआ या तो उसकी आवाजपर हँस देता है या उसकी
उपेक्षा कर देता है। स्वयं भारतमें गांधीकी आज एकाकी ध्वनि
है। मनुष्य उन्मत्त है और उसका समाज प्रमादकी मदिरा पीकर
पथभ्रष्ट हो गया है। मनुष्य मनुष्यताका हनन करता है और
फिर भी अभिमानके साथ अपनेको मनुष्य घोषित करनेका
साहस करता है। इस अंधकाराच्छन्न धरित्रीपर आज एक ही
प्रकाशकी किरण है जो अकेली किन्तु चतुर्दिक् आलोक फेंकती
हुई किसी अज्ञात किन्तु सुनिश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़ी चली जा
रही है। इस रश्मिने चमत्कार किये, फिर भी मूढ़ मानव
उससे प्रभावित होता दिखाई नहीं देता। गतिशील वह प्रकाश-
पुंज क्या 'युगधारा' को प्रभावित न करेगा? यदि गांधीका
विश्वास सत्य है और यदि मनुष्यताको पशुतापर विजय पानी है
और यदि मनुष्य जातिको प्रगति और विकासकी ओर बढ़ना
है तो निश्चय यही युगका प्रवाह उस आलोककी आभासे स्वर्णाभ
होगा। हम श्रद्धा और विनयके साथ, आश्चर्य और उल्लासके

साथ इस महान् तेज-पुंजका निरीक्षण कर रहे हैं। आज दो अक्टूबरको उसने जीवनके उन्यासी वर्ष पूरे किये हैं। भारतमाता उसे पाकर पुत्रवती हुई और मनुष्यताने उससे शोभा पायी। विकल, आकुल, दलित और पीड़ित मनुष्यताकी ओरसे हम इस महान् आत्माकी सफलताकी कामना करते हैं और विश्व-प्रपंचके सूत्रधारसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे बापूको चिरायु करे। वही आज मानवताकी एक मात्र आशा है।

विश्व-वंद्य बापू

ारतका वह ऐतिहासिक प्रस्ताव उपस्थित था, जिसके द्वारा
ाय जनताके प्रतिनिधि भावी भारतके स्वरूपका निर्माण
चाहते थे। इस प्रस्तावको पण्डित जवाहरलाल नेहरूने
ा परिषदमें उपस्थित किया था। विधान-परिषद्का यह
और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव था जिसमें यह घोषणा की
थी कि स्वतन्त्र भारतका स्वरूप एक अक्षुण्ण सर्वशक्ति
। लोकतन्त्रके रूपमें व्यक्त होगा जिसमें सारी शक्ति
ाके मूलाधार निम्नतर जनवर्गके हाथ में निहित होगी।
ाधान परिषद्का प्रथम किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव था
इस देशके सबसे अधिक लोकप्रिय व्यक्तिने विधान-
्में उपस्थित किया था।

ास ऐतिहासिक प्रस्तावपर जवाहरलालजीने जो भाषण
था वह भी ऐतिहासिक था। भारतके इतिहासमें जवाहर-
ीका वह भाषण उसी प्रकार अमर हो गया जिस प्रकार
ी राज्यक्रांतिके बाद प्रथम एकत्र हुए विधान सम्मेलनमें
ा द्वारा दिया गया भाषण अमर हो गया है।

ूसरी बार अभी उस दिन राष्ट्रीय पताकाको विधान परिषद्में
ात करते हुए और उसे राष्ट्रीय ध्वजाके रूपमें उपस्थित करते
क दूसरा प्रस्ताव उपस्थित करनेका श्रेय भी जवाहरलाल-

जीको ही मिला। उस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए भी जवाहर-लालजीने विधान-परिषद्में बड़ा ही मर्मस्पर्शी और ओजस्वी भाषण किया था। इन दोनों अवसरपर जिन्हें उनके भाषणोंको सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ वे जीवनपर्यन्त कभी उसे भूल नहीं सकते। कैसा वातावरण था। कैसी स्थिरता थी। सारे भवनमें कैसी गम्भीरता छायी हुई थी और जवाहरलालजीका स्वर बैठे हुए सदस्योंके कर्ण कुहरोंमें प्रतिध्वनित होकर उन्हें किस भाव-लोकमें पहुँचा रहा था। जिसने देखा उसने अनुभव किया कि सारा भवन जैसे कहीं धरतीसे ऊँचे किसी कल्पित लोकमें पहुँच गया हो। इन दोनों भाषणोंके उस अंशको तो कोई भूल ही नहीं सकता जिसका सम्बन्ध गान्धीजीसे था। प्रथम प्रस्तावको उपस्थित करते हुए और फिर कुछ महीनों बाद दूसरे प्रस्तावको उपस्थित करते हुए जवाहरलालजीने गांधीजीका उल्लेख जिस असीम कृतज्ञता, जिस अपार प्रेम और जिस अलौकिक श्रद्धाके साथ किया उसने मानो सभा-भवनके समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंके मूलको स्पर्श कर दिया। जवाहरलालजीकी विकम्पित स्वरलहरी उनके हृदयकी अपरिमित भावुकताका परिचय दे रही थी। देखा कि उनका गला रुँधा हुआ है और नेत्रोंमें अश्रुकी झलक है। सामने बैठे हुए सभासदोंकी न पूछिये। हर्षाति-रेकसे सब फूले नहीं समाते थे और बापूके प्रति अपने असीम प्रेम और असीम कृतज्ञताके कारण भावावेशमें बहे जा रहे थे। देखा कि न जाने कितने आँखोंसे आँसू बहा रहे थे। कतिपयकी तो हिचकियाँ बँध गयी थीं।

मैं स्वयं उस वातावरणसे प्रभावित था, किन्तु पत्रकार होनेके नाते चतुर्दिक सावधान दृष्टिसे देख भी रहा था। प्रत्येकके हृदयमें प्रवृष्टि करके उसके भावोंका दर्शन करनेकी

सर्वोच्चस्थान प्रदान किया है, जिन्होंने मनुष्यको देवत्वकी ओर अग्रसर करनेमें सहायता प्रदान की है। भारतने राजा, महाराजा और विजेताको प्रशंसाकी दृष्टिसे भले ही देखा हो पर पूजा उसने सदा उन चरणोंकी की है जो कालपथपर बढ़ते हुए सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनको अपने चरण चिन्होंका अनुगमन करनेके लिए प्रेरणा प्रदान कर गये। भारतीय इतिहासके इन्हीं पृष्ठोंसे भारत आज भी गौरवान्वित है। उसके ये ही पृष्ठ उसे विशेषता प्रदान करते हैं। योद्धा और विजेता, शासक और राजनीतिज्ञ तो दुनिया के दूसरे देशोंने भी उत्पन्न किये होंगे पर मनुष्य और ऐसा मनुष्य जो देवत्व के ऊँचे शिखरकी ओर अभियान करनेवाला हो सिवा भारतके भला किसने उत्पन्न किया। मैंने देखा कि बापू हमारी ऐतिहासिक गतिकी इसी परम्परासे प्रसूत वह लोकोत्तर महामानव है जिसने अध:पतित और अन्धकाराच्छन्न भारतमें न जाने किस अदृश्य लोकसे अवतरित होकर प्रकाश प्रदान किया। ऐसे व्यक्तिके प्रति सहस्राब्दियोंके अपने विशेष संस्कारसे प्रभावित भारत यदि श्रद्धा प्रकट करे तो यह उसके स्वभावके अनुकूल ही है।

बापू विराट है और उसके व्यक्तित्वके पहलू अनेक हैं। वह तो ऐसे अवसर पर हमारे जीवनके रंगमञ्चपर आया जब हमारा सारा जीवन शून्य हो चुका था। सिवा पददलनके और विताड़न तथा अपमानके हमारे पास था ही क्या हम विस्मृत थे अपने गौरवसे, अपने अतीत और आदर्शसे। हम भूल चुके थे अपनी मनुष्यताको और खो चुके थे अपनी आत्माको, असहाय थे, निर्बल और निष्प्राण। मनमें यह बैठ चुका था कि सदा ठोकरें खाते रहना ही हमारे भाग्यमें बदा है। न कोई पथ था, न कोई सहारा था और न कोई आदर्श था। यदि राजनीतिक पतन हो

चुका था तो सांस्कृतिक क्षय उसके भी पहले हो चुका था। तात्पर्य यह कि शून्यता थी असीम और भयंकर शून्यता थी। ऐसे जीवनमें गांधीजीने प्रवेश किया। उनके प्रवेश और उनके स्पर्शसे ही मानों अभूतपूर्व चमत्कार मूर्त हुआ। हमारा इतिहास इस बातका साक्षी है कि गांधीका स्पर्श क्या था जादू था। उन्होंने तो न जाने किस महामन्त्रको मरणोन्मुख भारतीय राष्ट्रके कानोंमें फूँक दिया इस देशने महती दीक्षा पायी एक महान गुरुसे और ऐसी दीक्षा जिसने क्षण-मात्रमें निष्प्राणको सप्राण कर डाला। सोचिये तो सही कि गांधीने क्या नहीं दिया। उसके अनेक व्यूहवाले व्यक्तित्वसे चतुर्दिक प्रकाशकी रश्मियाँ फूट पड़ीं। गांधीने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन किया, राजनीतिक गतिशीलता प्रदान की। आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक कल्पनाओंको जन्म प्रदान कर दिया। गांधी स्वयं योद्धा हैं, विद्रोही हैं, कुशल राजनीतिज्ञ हैं, सांस्कृतिक नेता हैं, धर्मके प्रवर्तक हैं, नैतिकताके पोषक हैं, संगठनकर्ता हैं, लेखक हैं, कलाकार हैं, करोड़ों नर-नारियोंके जीवनोदधिमें अपने एक चरण विक्षेपसे महती तरंग उठा देनेवाले हैं। उसका जीवन यदि सदा संघर्षमें बीता, यदि उसने सदा तोड़-मरोड़ किया तो दूसरी ओर वह शांतिका उपासक और महान शिल्पी है जिसके जीवनका प्रतिक्षण नव-निर्माणके महत्कार्यमें ही लगा रहता है। यदि वह आदर्शवादी है तो यथार्थताका उससे अधिक ज्ञान किसीको नहीं है। जब वह संकल्प करता है तो हिमालयकी भाँति अटल हो जाता है। जगतकी कोई शक्ति, कोई प्रलोभन उसे अपने स्थानसे डिगा नहीं सकती। उस समय वह कुलिशसे भी कठोर हो जाता है। पर इस बज्रके समान हृदयवाले व्यक्तिकी कोमलताकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती है।

वह रो उठता है किसी कोनेमें पड़े हुए एक भूखेको देखकर। समयके अनुकूल परिवर्तित होनेमें भी उसका सामना कोई नहीं कर पाता। साहसके साथ यथार्थताके अनुकूल अपनेको बना लेनेमें उसे देर ही नहीं लगती। इसी कारण गांधी विकासशील दिखाई देता है और सफल हुआ है एक महान राष्ट्रके जीवनको प्रायः तीस वर्षोंतक अपनी ऊँगलियोंके इशारेपर नचानेमें। ऐसे व्यक्तिके अवतारित होते ही भारतकी सारी स्थिति परिवर्तित हो गयी।

गांधीने हमारे जीवनके प्रत्येक अंशको स्पर्श किया। छोटेसे छोटेको लेकर बड़ेसे बड़े अंशको उसने अंगुलियोंसे छू दिया। राजमहलोंसे लेकर झोपड़ियों तक, वनबीहड़ और गिरिश्रृंगोंसे लेकर वैभवशाली जनाकीर्ण नगरी तकको उसने आमूल हिला दिया। हमारी धारणाएँ, भावनाएँ, और कल्पनाएँ हमारे दृष्टि-कोण, हमारे विचार, हमारे संस्कार, हमारा रहन-सहन, हमारी गतिविधि, हमारा जीना, हमारा इतिहास, समान रूपसे इस महान् व्यक्तित्वके द्वारा प्रभावित हुआ। उसने सब दिशाओंमें हमें अतुलनीय देन प्रदान की। हमने देखा यह महान् विप्लवी भारतके घृणित वर्तमानको चूर किये बिना और उज्ज्वल भविष्य-की रचनाका सूत्रपात किये बिना शान्त होनेवाला नहीं। उसमें ज्वालामुखीकी धधक थी, समुद्रके समान गंभीरता थी, पृथ्वीके समान क्षमा थी और हिमगिरिके समान अटलता थी तथा सुरसरिताके सदृश तरलता भी थी पर जो था सब अभिनव था। उसका विप्लव अनोखा, युद्ध बेजोड़, पथ निराला, प्रयोग अलौ-किक, आदर्श असाधारण। उसका विप्लव था पशुताके विरुद्ध पर साधन पाशविक न थे। मानवताकी स्थापनाके लिये किया गया विद्रोह, मानवोचित साधन, मानवोचित पथ और मानवो-

चित आदर्शको लेकर प्रारंभ हुआ। यह अभिनव महाप्रयोग जगतके लिये आश्चर्यकी वस्तु थी। विश्वास मानिये कि ऐसा प्रयोग भारतमें ही हो सकता था और गांधी द्वारा ही हो सकता था; क्योंकि हमारे संस्कार, हमारी परंपराएँ, हमारा आदर्श, हमारे जीवनकी और हमारे हृदयकी प्रतिभा इसके अनुकूल थी। जगतके किसी दूसरे देशको यह सौभाग्य प्राप्त हो ही नहीं सकता। गांधीको जो मिला वह सूक्ष्म दृष्टिसे कोई नया नहीं था। उन्होंने जो किया वह यही था कि इस देशकी सुषुप्त आत्माका साक्षात्कार किया और उसकी ज्योतिका दर्शन करके उसे सजीव कर दिया। गांधीजीने वास्तवमें विलुप्त भारतीयताको न जाने किस प्रकार और किस अलौकिक प्रतिभासे ढूँढ़ निकाला और विश्वके ऐतिहासिक रंगमंच पर मूर्त कर दिया। जब किसी देशकी आत्माका स्पर्श इस प्रकार होता है तो वह मूलतः आलोड़ित हो जाता है। आलोड़न गति प्रदान करता है और गति इतिहासके पृष्ठोंकी रचना कर जाती है। यह इस देशमें हुआ और उसका जनक बापू रहा।

ऐसे व्यक्तिके चरणों में सारा राष्ट्र नतमस्तक हो तो आश्चर्य नहीं। वह व्यक्ति विरक्त है। क्योंकि उसे अधिकारकी पिपासा नहीं। वह शासक नहीं महात्मा है। जो मनुष्यको देवता बनानेकी चेष्टा किया करता है। विश्वमें ऐसी विभूतियाँ शताब्दियोंमें आती हैं और एक ऐसी ही विभूतिको उत्पन्न करनेका श्रेय इस देशको प्राप्त है। गांधीजीकी उत्पत्ति ही इस बातका प्रमाण है कि भारत महान है और उसका भविष्य भी उज्ज्वल और महान है। लघुसे महानकी सृष्टि नहीं हो सकती है। महत्ता ही महानका प्रजनन कर सकती है। जिस दिन यह व्यक्तित्व इस देशमें प्रस्फुटित हुआ उसी दिन कदाचित् यह निश्चय हो गया था कि

घटनाओंके चक्रमें फँसकर अधःपतित भारतकी दुरवस्थाका अन्त निकट है। यदि ऐसा न होना होता तो हमें यह नेता भी न मिलता। आज उसके तप, उसकी प्रेरणा और उसके प्रकाशसे महान पथपर अग्रसर हुआ भारत अपने लक्ष्य तक पहुँच गया। देखते-देखते एक विशाल साम्राज्य एक दुर्बल शरीर और अशस्त्र फकीरकी हुंकार में भस्म हो गया। अब स्वतन्त्र भारतको अपना स्वतन्त्र निर्माण करना है। पर वह निर्माण भी किस लिये? इसलिये नहीं कि वह विश्वके लिये भय और आशंकाका कारण बने, इस लिये नहीं कि मोहमयी प्रमादकी मदिरा पीकर उन्मत्त हुए मनुष्यकी पशुतामें वह भी सहायक हो और सहायक होकर उसे और अधिक भयानक बना दे। पर निर्माण करना है इस-लिये कि पथसे भ्रष्ट हुई मानवताके शकटको अधः पतनकी ओरसे बलात आकृष्टकर प्रगतिकी ओर बढ़ाये। इसलिये कि मनुष्य मनुष्य बने, देवत्वकी ओर बढ़ चले, विकासकी अनन्त यात्रा का यात्री बने और धरतीको सारी मानव जातिके अनुकूल बना दे। सिवाय हमारे बापूके और कौन-सा व्यक्तित्व है जिससे यही सत्य और यही आदर्श उद्दीप्त हुआ है। भगवानसे प्राथना करते हैं कि वह हमें शक्ति प्रदान करे जिससे हम उस पथपर चल सकें जो बापू द्वारा निर्दिष्ट है और जो उनके चरणस्पर्शसे पुनीत हो चुका है।

भारतीय क्रांति और बापू

ब्रिटिश सत्ताका समूल उच्छेद करनेके लिए प्रायः एक शताब्दी पूर्व भारतीय अन्तरिक्षपर विद्रोहकी रक्ताभा झलक उठी। सन् १८५७ राष्ट्रीय इतिहासमें चिरस्मरणीय हो गया। उत्तर भारतमें एक कोनेसे दूसरे कोनेतक उस महाक्रान्तिका प्रज्ज्वलन हुआ। विहार और युक्तप्रान्त विशेष रूपसे क्रान्तिको चरितार्थ करनेमें संलग्न थे। दिल्लीके राजसिंहासनसे लेकर राजधानीकी वीथियोंतकमें विद्रोहका दावानल भभका। महीनों संघर्षके बाद स्वतन्त्रताका वह युद्ध असफल रहा। पर अपनी असफलताके साथ साथ जिस जाग्रतिका सूत्रपात कर गया वह तबसे अबतक भारतके राष्ट्रीय जीवनको आलोकित करती रही है क्रान्तियाँ यद्यपि सहसा आविर्भूत होती हैं परन्तु वे विशुद्ध आकस्मिक घटनाएँ नहीं होतीं। परिस्थितियोंका प्रवाह जिन ऐतिहासिक कारणोंका प्रजनन करता है वे ही समय पाकर शक्तियोंके रूपमें मूर्त होते हैं। सारी ऐतिहासिक गतिविधि कार्य-कारणकी शृंखला है। सन् १८५७ का विद्रोह भी परिणाम था उन ऐतिहासिक कारणोंका जो भारतमें विदेशी शासनसे संभूत हुए थे। यह विद्रोह असफल हुआ पर अपनी समाप्तिके साथ उस सामन्तवादी युगकी समाप्ति भी करता गया जो जर्जरीभूत होकर स्वतः छिन्न-भिन्न हो रहा था। उस युगकी

समाप्तिने भारतमें नयी चेतना और क्रमशः नये समाजको जन्म प्रदान किया जिसने समय पाकर नयी दृष्टि, नयी कल्पना, और नयी धारणा ग्रहण की। विद्रोहोत्तर भारतमें एक भारत, एक राष्ट्रकी कल्पना अभिनव घटना थी जो भारतीय इतिहासके किसी युगमें इस रूपमें अभिव्यक्त नहीं हुई थी। कांग्रेसका जन्म इसी प्रवृत्तिके गर्भसे हुआ। इस नयी विचार-धाराने उत्तरोत्तर सारे देशको परिप्लावित किया। भारतीय महासागरसे लेकर हिम-गिरिकी उत्तुङ्ग चोटियाँ तक इस नयी दृष्टि और नये आदर्शसे प्रभावित हुईं।

भारतीयता इसके पूर्व शताब्दियोंसे मूर्छित थी। भारतका उज्ज्वल अतीत धूमिल था, इतिहास प्रलुप्त था। जीवन जड़ता-विभूत हो गया था। विद्रोहकी ठोकर खाकर उत्थित हुए इस महादेशकी चेतना नये रूपमें चैतन्य हुई थी। राष्ट्रीयताकी इस नयी धाराने इतिहासमें जिस नयी गतिकी सृष्टि की, वह सवेग बहती हुई वंग-भंगके समय स्वदेशी आन्दोलन और तत्कालीन विप्लववादी संघटनके रूपमें भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत हुई। स्वदेशी आन्दोलन उत्थित भारतीयताकी उस प्रवृत्तिका द्योतक था जिसने एक बार पुनः अपनेपनसे प्रेम करना सीखा था। स्वदेशी-आन्दोलनमें विप्लवका गर्जन था, राष्ट्रीय स्वाभिमानकी हुँकार थी, अपने अतीत, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और अपनी परम्पराके प्रति प्रेम था और घृणा थी उन समस्त विदेशी तत्वोंके प्रति, विदेशी भाषा, भाव और भेषके प्रति जो भारतीय पराधीनताके द्योतक थे। नवसंभूत यह नवस्पन्दन भारतीय आत्माके विक्षोभका सूचक था, जिसकी सबलता देखकर इस देशके पतन और मूर्छापर अवलंबित विदेशी अधिकार-सत्ता सिहर उठी। इस आन्दोलनने एक बार पुनः पराधीनताका

बन्धन छिन्न-भिन्न करनेके लिए महान प्रयास किया। वह प्रयत्न यद्यपि सफल नहीं हुआ परन्तु इतिहास इस बातका साक्षी है कि इस देशके जीवनका सांगोपांग उन्नयन करनेमें यह असाधारण रूपसे सफल हुआ। पराधीनता वास्तवमें परिणाम होती है उस मनस्थितिकी जो अपने पतनमें ही सन्तुष्ट रहना जानती है। जीवनके विनिपातकी चरम सीमा वह होती है जब बन्धन और अपमानमें हम सुखका अनुभव करने लगते हैं। स्वतंत्रता वास्तवमें इस मनस्थितिके परिवर्तनका परिणाम होती है। मानसिक क्रान्ति भूमिका होती है उस व्यक्त क्रान्तिकी, जो बाह्य परिस्थितियोंका परिवर्तन करनेमें तथा स्थापित व्यवस्था-को विचूर्ण करके उसके भग्नावशेषपर नवस्तूपका निर्माण करनेमें समर्थ होती है। स्वदेशी आन्दोलनने भारतीय राष्ट्रकी मनस्थिति-में वही मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करनेमें सफलता प्राप्त की।

आज जब हम अपने गत् कतिपय देशके इतिहासपर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि स्वदेशी आन्दोलनसे उद्भूत वह मानसिक क्रान्ति क्रमशः विकसित और प्रौढ़ होती चली, जो अन्ततः सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलनके रूपमें सजीव और गांधीजीके रूपमें साकार व्यक्त हुई। असहयोग आन्दोलन आजीवित महाराष्ट्रके विक्षुब्ध हृदयकी प्रतिरोधात्मक लहरी थी जो विद्युत वेगसे सहसा राष्ट्रीय जीवनके अंग-प्रत्यंगको आप्लावित कर गयी। एक निहत्था, पराभूत, शताब्दियोंसे प्रताड़ित किन्तु जीवित और स्वाभिमानी राष्ट्र अपमानकी ज्वालासे विदग्ध होने पर किस प्रकार उठता है और तप तथा बलिदानके पथपर अग्रसर होकर अपने उत्थानके राजमार्गको किस प्रकार अपने रक्तसे सिंचित करता है इसका प्रमाण भारतकी गत बीस वर्षोंकी घटनाएँ हैं जो जगतके इतिहासमें नया पृष्ठ जोड़ गयीं। सत्याग्रह

और सविनय अवज्ञाके रूपमें भारतने महती शक्तिसम्पन्ना ब्रिटिश शक्तिकी प्रतिष्ठापर आघात करके उसे समूल प्रकंपित कर डाला। अधिकारसत्ताएँ जीवित रहती हैं और फलती-फूलती हैं अपने अधीनस्थ उत्पीड़ित जनताकी कायरता और नैतिक अधःपातके बलपर। बंग-भंगने यदि राष्ट्रमें मानसिक क्रान्ति उत्पन्न की तो जालियाँवाला बाग और अमृतसरकी गलियोंने प्रतिरोधकी उस शक्तिका प्रजनन किया जिसने निरङ्कुश शासन-शक्तिके सम्मुख सिर उठाकर खड़े होनेकी प्रेरणा प्रदान कर दी। सत्याग्रहकी सारी विचार-पद्धति और उसकी सारी प्रेरणा जीवनमें उस नैतिक बलका सर्जन करनेका लक्ष्य लेकर अग्रसर होती है जो मनुष्यको पाप, अनाचार और मदमत्त पशुशक्तिके सम्मुख निर्भय होकर उसको ललकारने और उसकी अवहेलना करनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है। असत्य और शस्त्रपर प्रतिष्ठित शासन-शक्तिके सामने सिर न झुकेगा चाहे मस्तक उच्छिन्न हो जाय। यह प्रवृत्ति विद्रोहकी मनस्थित है जिसकी सृष्टि असहयोग-आन्दोलन और सत्याग्रह संग्रामने की। पुनः इतिहासकी गतिविधिपर ध्यान दीजिये। आप देखेंगे कि भारतका व्यापक धन, समाज, उसकी शोषित, दलित और मूक जनता इसी उद्दाम भावनासे प्रेरित हुई। भारतकी जन-जाग्रतिने इस देशके अवशिष्ट सामन्तवादी समाजकी जड़ खोद डाली, रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया और विदेशी शासनस्तंभोंकी नींव खिसका दी। स्पष्ट है कि कोई शासक समुदाय जन-जागर्तिकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अनिवार्यतः स्वार्थी शासकवर्ग और उत्थित जन-वर्गका संघर्ष तीव्र होता चले और इस रगड़से एक दिन वह अग्नि प्रज्ज्वलित हो, जो सारे देशमें व्याप्त हो जाय। दमन और निष्ठुर प्रहारसे जागर्तिका विलोप ऐतिहासिक सत्यके विरुद्ध है

अवश्य ही क्षणभरके लिए जलती हुई आगपर धूल फेंककर उसे बुझा देनेका सन्तोष किया जा सकता है, पर अन्तर्गर्भकी ज्वाला जब दहकती है तब दूने वेगसे दहकती है।

भारतीय राष्ट्रके इतिहासका प्रवाह प्रकृतिकी विकासोन्मुखी नैसर्गिक धाराके साथ है। उसका अवरोधन करना प्रकृतिके उस विधानका अवरोधन करना है जिसकी असीम शान्तिका कुंठन मनुष्यकी शक्तिके परे है। अदूरदर्शी और स्वार्थी शासक-समाज भ्रान्त और मोहाच्छन्न होकर इस तथ्यका साक्षात्कार करनेमें समर्थ नहीं होता। इतिहासकी यही शिक्षा है और यही कारण है कि हम दुराग्रही शासनसत्ताओंको समय-समयपर धूलमें मिलते देखते रहे हैं। भारतकी स्थिति भी इससे भिन्न न रह सकी और न रह सकती थी। समय आया जब वह प्रवृत्ति जिसकी उत्पत्ति १८५७ में हुई, जो वंग-भंगके द्वारा असिसिंचित हुई, जिसे १९२१ में शान्ति मिली, सन् १९४२ में अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी। जिस समय युद्ध विश्वव्यापी भयावने भूकंपकी भाँति समस्त धरतीको उछाले दे रहा था और जब अपने सारे उपकरणों और उपसर्गोंके सहित जगतकी व्यवस्थाएँ ढहती और मसकती दिखाई दे रही थीं उस समय भारतीय प्रांगणमें एकत्र विस्फोटक परिस्थितिमें चिर-असन्तोषकी चिनगारीका पहुँच जाना स्वाभाविक था। ब्रिटेनके शासकोंने यदि कल्पनाशीलता और दूरदर्शिताका परिचय दिया होता तो कदाचित् जागरूक भारतकी सक्रिय चेतनासे लाभ उठाया होता। पर उनमें कहाँ था इतना साहस और कहाँ थी इतनी सूक्ष्म बुद्धि। भारतकी गति और चेतनाका गला घोंटनेकी चेष्टा करनेवालोंने भारतके हृदयमें धधकते हुए ज्वालामुखीको अभूतपूर्व रूपमें उत्तेजित कर दिया। सन् १९४२ इसी विक्षोभकी प्रतिक्रिया

थी। मुझे स्मरण है बम्बईका वह अधिवेशन जिसमें भारतीय राष्ट्रकी आत्माने गांधीके रूपमें 'कुछ कर जाओ या मर जाओ' का दृढ़ संकल्प व्यक्त किया। मैंने देखा कि घण्टे भर पूर्व सोया हुआ महादेश सहसा उठा और भयावनी गर्जना करते हुए सवेग चल पड़ा। सारी भारत-वसुधा कण-कण सहित विद्रोहके पद-विक्षेपपर नाच उठी। सुदूर अन्तरिक्षसे पर्वतोंकी उत्तुङ्ग चोटियों-से, झोपड़ियों और नभचुम्बी अट्टालिकाओंसे, आबालवृद्ध नर-नारियोंके मुखसे विद्रोहकी ध्वनि आयी जिसने अम्बर और मेदिनीको सम्पूर्णतः भर दिया। शताब्दियोंसे दलित और अप-मानित राष्ट्रकी आत्मा मानो सहसा जल उठी। देखते-देखते भारतीय प्रांगणमें ब्रिटिश अधिकार-सत्ता चूर होती दिखाई पड़ी। ऐसा मालूम हुआ कि इतिहास सहसा पलटा खा रहा है। दूसरी ओरसे उद्दंड निरंकुशता भयंकर विभीषिका बनकर दहाड़ उठी। दमन महाकालीकी लाल जिह्वाके समान लपक उठा और देशके कोने-कोनेसे रक्तकी धारा बह निकली। भारतीयोंने खुले वक्षस्थलपर यह आघात सहन किया। पाशविक अट्टहासका सामना किया पर अपने पथसे विचलित न हुए। जगतने देखा ऐसे युद्धको जिसमें एक ओर पशुता थी, शक्ति और शस्त्रका प्रलयंकर नर्तन था, और दूसरी ओर विप्लवका उन्माद तथा जीवनोत्सर्गकी कामना थी। संसारने यह भी देखा कि उन मिट्टीके पुतलोंने जिन्हें उठते-बैठते दो लात जमा देनेमें किसीको संकोच न होता था। हुंकारमात्रसे बनी बनायी सारी व्यवस्थाको क्षणमात्रमें धूलिसात कर डाला। हमने देखा और दुनियाने देखा बलियामें जेलके फाटकोंको खुलते, अधिकारियों द्वारा जनसत्ताके चरणमें अधिकारसूत्रका समर्पण होते और थोड़े समयके लिए ब्रिटिश सत्ताको लुप्त होते।

सन् १९४२ का यह महाविद्रोह भारतीय स्वतंत्रताका वह दूसरा युद्ध था जो १८५७ के बाद इस देशके अञ्चलमें लड़ा गया। कहनेवाले कह सकते हैं कि सन् ५७ की भाँति ही यह महासंग्राम भी विफल रहा, पर देखनेवाले देख सकते हैं कि इस प्रज्ज्वलित अग्निमेंसे जिस तप्त पूत भारतका प्रभाव हुआ है वह दैन्य, दौर्बल्य और दासताकी शृंखलाको उच्छिन्न कर चुका है। आज के भारतमें वह ओज, वह बल और वह तेज है, जो शताब्दियोंसे विनष्ट हो चुका था। भारत सन्नद्ध है अपने हाथों अपने भविष्यका निर्माण करने के लिए और जगत कोई शक्ति नहीं है जो उसके मार्गका अवरोधन करनेमें समर्थ हो। यह देश यथारूढ़ है जिसके सम्मुख स्वार्थी सत्ता बँगले झाँक रही है। आज भारतको न कुछ सोचना है न कुछ चुनना है। उसका लक्ष्य उद्दीप्त है, पथ स्पष्ट है और आकांक्षा उज्ज्वल है। पथका चयन करना है ब्रिटेनको और भविष्यका निश्चय भी उसीको करना है। वह भारतकी मित्रताका आकांक्षी है अथवा शत्रुताका आवाहन करना चाहता है। समय ही इस प्रश्नका उत्तर देगा। भारत तो अपने भविष्य और अपनी सफलतामें दृढ़ आस्था रखता है। वह जानता है कि युग उसका साथी है, जगतका प्रवाह उसका सहायक है और इतिहास उसका पथ-प्रदर्शक है।

आज हम ऐसे अवसरपर बापूकी उन्यासवीं वर्षगाँठ मना रहे हैं जब एक सहस्रवर्षकी पराधीनताका अन्त करके भारत स्वतन्त्र हो चुका है। आजसे तीस वर्ष पूर्व जब गांधीजी भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें अवतरित हुए तब उस समय किसीने यह आशा नहीं की थी कि अब वह दिन दूर नहीं है, जब जगतकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति द्वारा परिचालित साम्राज्य इस दुर्बल शरीरवाले व्यक्तिके सामने भस्म हो जायगा। एक सहस्र

वर्षकी पराधीनता साधारण वस्तु नहीं हुआ करती। भारत पुराना राष्ट्र है और अद्भुत देश है पर उसकी पराधीनता भी विचित्र ही रही है। संसारके किसी देशके इतिहासमें पराधीनताकी इतनी लम्बी अवधि आपको न मिलेगी, भारतने जैसे सहस्रों वर्षतक स्वतन्त्रता और ऐश्वर्यका उपभोग किया वैसे ही उसने सहस्रवर्षकी लम्बी अवधि तक पराधीनताका पाप भी सहन किया। पराधीनताके विरुद्ध आरम्भसे लेकर अब तक समय समयपर प्रयास होते रहे। प्रताप और शिवाजी, गुरु गोविन्द और छत्रसाल आदिकी गाथाएँ इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। जब ब्रिटिश शासन भारतमें आया तब हमारी पराधीनताका दूसरा युग आरम्भ हुआ। उसके विरुद्ध भी इस देशने संघर्षका संव्यूहन किया। प्लासीके युद्धसे लेकर आजतक प्रायः- दो सौ वर्षोंके बीचमें यह देश अपनी स्वतन्त्रताके लिए बराबर प्रयास करता रहा है। सिराजुद्दौला और मीरकासिम, टीपू और पेशवा बहादुरशाह और नाना साहब, लक्ष्मीबाई और कुँअरसिंहसे लेकर अबतक संघर्षकी वह शृंखला बराबर रही है। इन सहस्रवर्षोंमें देशको उठाने और उसकी विध्वंसात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियोंको किसी उज्वल दिशाकी ओर नियोजित करनेकी चेष्टा भी बराबर होती रही है। इस बीचमें संतोंका युग आया जिन्होंने भारतके भारतीयताका उद्बोधन करनेकी चेष्टा की। अंग्रेजोंके शासन कालमें भी यह चेष्टा बराबर जारी रही। दयानन्द और राममोहन, विवेकानन्द और रामतीर्थमें भारतके उद्बोधनकी वही प्रक्रिया व्यक्त हुई थी पर इन तमाम चेष्टाओंके होते हुए भी एक सहस्रवर्षतक हमारा देश पराधीन बना रह गया। पराधीनताके प्रवाहमें हम एक ऐसे बिन्दुपर पहुँचे जब यह ज्ञात होने लगा कि कदाचित्

हमारे उद्धारकी अब कोई आशा नहीं। भारतीय हृदयोंमें नैतिक अधःपतनकी चरम सीमा पहुँच गयी थी। देश निर्जीव था। निराश हो चुका था और कदाचित् अपनी पराधीनताको ही अपने लिए स्थायी मानकर उसीमें संतोष करने लगा था। ऐसे ही युगमें गांधीजी हमारे राजनीतिक क्षेत्रमें आकृष्ट हुए। भारतको उन्होंने पथ प्रदान किया, प्रेरणा दी, गति दी, और विश्वास दिया। उनके तपसे इस देशने, भविष्यके प्रति आस्था पायी। वलिदान और उत्सर्ग, कष्टसहन और त्यागके अभिनव पथपर आगे वढ़ाकर उन्होंने एक ऐसे विद्रोहकी रचना की जिसकी मिसाल दुनियामें नहीं मिलती। साथ ही साथ गांधीजीकी योजनाकी यह विशेषता थी कि जहाँ उन्होंने समस्त भारतीय राष्ट्रको प्रवुद्ध और गतिशील वनाया वहीं उन्होंने अपने पवित्र व्यक्तित्वसे उसकी समस्त सात्विक और उत्तम प्रवृत्तियोंको जागृत कर दिया। गांधीजीका रक्त रहित युद्ध और द्रोह-रहित विद्रोह उनकी उसी विशेषताका द्योतक था। विद्रोहके लिए विध्वंसात्मक शक्तियोंको जगाते हुए भी उन्होंने राष्ट्रकी विधेयात्मक और रचनात्मक भावनाओंका उद्‌वोधन किया। गांधीकी विद्रोह-धारा इन दूकूलोंके वीचसे वह चली। एक ओर उन्होंने भारतके मनुष्यका निर्माण किया। उसे रचयिता और निर्माता वनानेकी चेष्टा की और दूसरी ओर इस देशके निश्चेष्ट और निर्जीव जन्तुओंमें वल तथा पौरुष भर दिया। पराधीनताके गढ़को ढहाते हुए आगे वढ़े, और उसके स्थानपर नये जीवन, नये आदर्श और नयी व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा करते हैं।

गांधीजीमें इसी कारण हम गत एक हजार वर्षोंके इतिहासकी उन दोनों प्रवृत्तियोंको समानरूपसे समुद्‌भूत पाते हैं।

एक ओर यदि प्रताप और शिवाजी द्वारा आरम्भ किये गये स्वातन्त्र्य संग्रामकी प्रवृत्ति थी तो दूसरी ओर तुलसी और कबीर, दयानन्द और विवेकानन्दकी उद्बोधिनी प्रवृत्ति भी थी। ऐसा ज्ञात होता है कि भारतके ऐतिहासिक प्रवाहके केन्द्रीभूत रूपमें महात्माजी इस देशके राष्ट्रीय जीवनके रङ्गमञ्चपर प्रस्तुत हुए। गत तीस वर्षों तक अनवरत रूपसे उन्होंने इस देशकी आत्माका निरन्तर आलोड़न किया। उनमें राष्ट्रने अपनी समस्त वृत्तियोंका समावेश और विकास देखकर उन्हें भारतीयताका प्रतीक समझा। यही कारण है कि गांधीजीने समस्त राष्ट्रका वह विश्वास, वह आदर और वह सहयोग प्राप्त किया जो जगतके कदाचित किसी दूसरे महान् व्यक्तिको प्राप्त नहीं होगा! यदि हुआ भी तो इतनी लम्बी अवधि तक कोई दूसरा व्यक्ति उँगलियोंके संकेतसे, अपनी भृकुटियोंके सञ्चालनसे और अपनी वाणी तथा मुस्कुराहटसे इतने बड़े राष्ट्रको सञ्चालित न कर सका। गांधीजी अभिव्यक्ति थे समस्त ऐतिहासिक धाराके और यही कारण है कि उन्होंने देशके प्रत्येक अङ्गको, राष्ट्रीय जीवनके समस्त पहलुओंको सफल रूपसे जागृत किया। उनका प्रभाव युगको ही प्रभावित करनेमें समर्थ हुआ। राजप्रासादोंसे लेकर निर्जन और सुदूर वनवीहड़ तथा पर्वतोंकी उपत्यकाओंमें पड़ी हुई अँधेरी झोपड़ियोंतक समान रूपसे प्रभावित हुआ। विचार कर देखिये गत तीस वर्षोंमें देशका कौनसा अङ्ग ऐसा बाकी बचा जिसपर उनकी छाप नहीं पड़ी। राजा हो या रङ्क, मजदूर हो या पूँजीपति, नर हो या नारी, राजनीतिक हो अथवा शासक सबपर उन्होंने अपना रङ्ग डाला। सामाजिक जीवनके क्षेत्रमें हमारी सारी प्रतिभा भी उसी प्रकार गांधी-रङ्गमें रङ्ग गयी। धारणाएँ, कल्पनाएँ और आदर्शों-

और झंकृत कर देनेकी अलौकिक प्रतिभा और सामर्थ्य
व्यक्तिविशेष एक ऐतिहासिक अवसरपर उपस्थित हुआ।
रतकी कायाको आजके तीस वर्ष पूर्वके भारतसे उस
तुलना कीजिये जिसे आप देख रहे हैं, आप पावेंगे कि
चेतक वह परिवर्तन हुआ है जिसकी कल्पना भी तीस
ोई नहीं कर सकता था। यही वह देश है जो तीस
क रगड़नेमें अपमानकी अनुभूत नहीं करता था।
ा रहा होता तो अमृतसरकी गलियोंमें भारतीय घृणित
भाँति पेटके बल न रेंगता और वही देश आज ही
हत्थे होते हुए भी अगस्तकी महती क्रान्ति कर डाली
जयोन्मादमें प्रमत्त ब्रिटिश सत्ताको अपने सम्मुख
नेको बाध्य कर डाला। क्या कोई तुलना उसमें और
है? यही वह देश है जहाँके निवासियोंको भारतीय
कोच हुआ करता था। हिन्दुस्तानी होना अपमानकी
ौर हिन्दुस्तान अपनेको साहब बनने तदनुकूल वेष-
ाव विचार ग्रहण करनेमें सभ्यता समझता रहा।
त है जहाँ से ब्रिटिश पराधीनतासे संभूत समस्त
प्रभाव इस प्रकार मिट गया है कि उसका लेश भी
नहीं देता। इसे इतिहासका छोटा-सा विद्यार्थी भी
रेगा कि ब्रिटिश सत्ता के साथ-साथ भारतमें पाश्चात्य
भी प्रवेश किया और उसने देशके जीवनपर गहरा
। भारतका यदि सांस्कृतिक पराभव न हुआ होता
राजनीतिक दासता भी इतनी लम्बी न हुई होती।
स्वीकार करेगा कि पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजोंके
भारतको प्रभावित नहीं किया। पर आज आँखें

खोलकर अपने चारों ओर देखिये, ढूँढ़कर बताइये तो सही कि दो सौ वर्षोंतक शासन करनेके बाद अंग्रेज यहाँसे गये पर जाते हुए, इस देशपर अपना कौन-सा प्रभाव छोड़ गये। उनकी कौन-सी सांस्कृतिक छाप राष्ट्रके जीवनपर रह गयी है। कल्पना कीजिये कि दो दशक बाद क्या कोई कभी यह सोच भी सकेगा कि भारतमें एक युग ऐसा था जब दो सौ वर्षोंतक एक विदेशी शक्तिने यहाँ शासन किया था। इस्लामने भी भारतकी सीमाका अतिक्रमण करके इस भूमिमें पदार्पण किया था। आठ सौ वर्षों तक उसका डङ्का बजता रहा। अवश्य ही उससे प्रसूत धाराका प्रतिरोध भारतने किया फिर भी इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जाते हुए उसने अपनी संस्कृतिकी छाप हमारे ऊपर डाल दी। अवश्य ही भारतकी वह गति नहीं हुई जो मिस्र, फारस या अफगानिस्तान की हुई क्योंकि वहाँ की संस्कृतिने इस्लामके सामने न केवल पूर्ण आत्मसमर्पण किया प्रत्युत उसीसे तादात्म्य प्राप्त कर लिया। भारतमें यह हो नहीं सकता था क्योंकि इस देशकी आत्माका ओज बाकी था, पर यह न होते हुए भी इस्लाम से वह प्रभावित हुआ। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। भारतके तत्कालीन साहित्य पर उसकी कला और उसके कौशलपर उसके रहन-सहन और उसकी वेष-भूषापर उसने अपनी छाप स्पष्ट रूपसे डाली। पर अंग्रेज क्या दे गये। उन्होंने यदि कुछ प्रभाव डालनेका प्रयास किया तो दूसरी ओर उस प्रभावके उच्छेद की भी वैसी ही भरपूर चेष्टा हुई। गांधीजीका अवतरण तो विदेशित्वका मूलोत्पाटन करनेके लिए ही जैसे हुआ। यही कारण है कि इन तीन दशकोंके भीतर ही भीतर भारतका जैसे इतिहास बदल गया है; उसकी काया पलट हो गयी, स्वरूप

और स्वभाव परिवर्तित हो गया। भारतकी उन भावनाओं का उद्‌बोधन भी अकल्पित रूपमें हुआ। जिससे विस्मृत और मूर्छित राष्ट्रको उसका स्वरूप प्रदान करनेमें सफलता प्रदान की। यह सब गांधीके तपका परिणाम है। भारत अपने इस जनकको इसी कारण बापूके रूपमें पूजता है।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रका यह निर्माण इस देशके जीवनमें वह आलोक होकर आया जिसकी ज्योतिसे शताब्दियोंतक भारतीय राष्ट्र प्रकाशमें बना रहेगा। हमारे इतिहासमें ऐसी विभूतियां आयी हैं जिनका युग देशके इतिहासका युग हो गया है। गांधीजी भी वैसी ही विभूतियोंमें स्थान रखते हैं। आज यदि हम उनकी देन और उनके कार्योंकी समीक्षा करने बैठें तो स्तम्भके स्तम्भ लिखते चले जाइये और आपको कहीं अन्त दिखाई न देगा। जिस व्यक्तिने देशकी खोई हुई आत्मा उसे प्रदान की, जिसने उसे कल्पना और आदर्श प्रदान किया, जिसने पथ दिखाया, पताका दी, संस्था दी, कार्य-क्रम दिया, नेतृत्व प्रदान किया, प्रेरणा दी, स्फूर्ति दी, जीवन दिया, आस्था और अनुभूति दी और अन्तमें उसे स्वतन्त्रता प्रदान कर दी, उस व्यक्तिके विस्तृत और व्यापक कार्यक्षेत्रकी समीक्षा परिमित स्तम्भोंमें कैसे की जा सकती है।

भारत तो आज केवल अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ विनम्र कृतज्ञताके साथ अर्पित करता है। उसके सौभाग्यसे गांधीजी आज भी जीवित हैं और पूर्वकी भांति ही अपने व्यक्तित्वका प्रभाव डाल रहे हैं। भारत स्वतन्त्र हुआ पर अभी स्वतन्त्र भारतकी रचना करनेका काम सामने पड़ा हुआ है। इस देशके सम्मुख यह महती और मौलिक समस्या है कि आज जिस भारतका निर्माण किया जानेवाला है उसकी बुनियाद किस भूमि पर रखी जाय

वह कौनसा आधार ठीक होगा जिसमें नव भारतका चित्र अक्स किया जायगा। हजार वर्षोंकी पराधीनताने जिस देशका सत्यानाश कर डाला है उसका नवनिर्माण साधारण बात नहीं है। सारा देश विक्षत, उध्वस्त और विनष्ट हो चुका है। भारत उजड़ चुका है, उसकी प्राचीन संस्कृति धूमिल हो चुकी है। उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भावना जिसकी रचना किसी पुराने युगमें हुई थी खो चुकी है। अब पुरानी व्यवस्था और पुरानी योजनासे काम नहीं चल सकता है। क्योंकि वह स्वत: धराशाई हो चुकी है। पर यदि नयेका निर्माण करना है तो किस आधार पर किया जाय यही प्रश्न है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व एक और पहलू है जिसको उपस्थित करना चाहिये। भारत कोई शिशुराष्ट्र नहीं है उसने सहस्राब्दियोंके युग देखे हैं। उसने हजारों वर्षोंतक अपने देशके जीवनका संचालन किया है और विकासके विराट रंगमंचपर अपना अभिनय गौरवके साथ पूर्ण किया है। उसने उस आर्य संस्कृतिको जन्म दिया जो इस देशकी सीमाका उल्लंघन करके शताब्दियोंतक वाह्य जगतको प्रभावित करती रही है। जीवनकी प्रत्येक दिशामें समय समयपर इस देशने महान् प्रयोग विविध रूपमें किये हैं। उन प्रयोगोंके आधारपर उसने सत्योंकी अनुभूति की है। अनुभूतियोंसे ही दृष्टि प्रदान की, दृष्टिने परम्पराओंकी रचना की, परम्पराओंने राष्ट्रीय जीवनकी, संस्कारोंकी अमिट छाप डाली। इन संस्कारोंसे प्रभावित राष्ट्रने सहस्राब्दियों तक जीवनका संचालन किया है। उसके जीवन प्रवाहने इतिहासकी रचना कर डाली है। भारतकी विशेषता यह भी रही है कि उसका इतिहास अटूट रूपसे शृंखलाबद्ध रूपमें वैदिक युगसे लेकर आजतक चला आया है, हमारे पीठपर लदा हुआ है। हम उसके भारसे नत हैं।

जिस देशकी संस्कृति सौ दो सौ वर्ष पुरानी है और जिसका इतिहास उसके पूर्व नगण्य था वे अपनी नयी रूपरेखा बनानेमें पूर्णतः स्वतन्त्र थे। उन्होंने युगके प्रभावमें पड़कर एक क़ल्पना की और उसका रेखांकन कर चले पर हमारे लिए यह संभव नहीं है। हम महान अतीतके उत्तराधिकारी हैं जिसकी अमिट छाप हमारे अन्तरपर, हमारे जीवनपर पड़ी हुई है। बहुतसे पुराने देश भी हैं पर उनके जीवन प्रवाहकी शृङ्खला कहीं बीचमें टूट गयी है। हम इससे भी बच गये हैं। इतिहासका कोई भी विद्यार्थी वैदिक युगसे लेकर आजतककी भारतकी समीक्षा करे तो वह यह पावेगा कि किसी अज्ञात और रहस्यमय कारणके फलस्वरूप वे अनुभूतियाँ और वे सत्य और वे दृष्टियाँ जिन्हें आर्य संस्कृतिने किसी आरम्भिक युगमें अपनायीं थीं; वे अबतक उसी रूपमें इस देशके जीवन-क्षेत्रपर अधिकार रखती हैं। कालके प्रवाहसे समयानुकूल उनके बाह्य स्वरूपमें परिवर्तन भले ही हुआ हो पर मूलतः हम अभिन्न हैं। क्योंकि वही धारा अबतक हमारा सिंचन कर रही है। इस स्थितिमें स्पष्ट है कि हम अपने अतीतकी उपेक्षा करके किसी नवभारतका निर्माण नहीं कर सकते। पर जहाँ यह है वहीं यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक जगतका प्रवाह और प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। विज्ञानने जिस संस्कृतिको जन्म प्रदान किया है वह उपेक्षाकी वस्तु नहीं है। कोई भलेही अपने अतीतपर अभिमान करे पर जो प्रकाश पश्चिम-से आ रहा है उसकी महत्ता और ओजको अस्वीकार करना सत्यसे मुख मोड़ना है। इस संस्कृतिने समस्त विश्वको प्रभावित किया है। उसने मनुष्यके सम्मुख प्रकृति उसी विभूतिको उनके चरणोंमें ला पटका है। अपने मुँह आप बड़े बनते चलिये पर आपकी सारी महत्ता और सारा अभिमान उसके

सम्मुख विचूर्ण हो चुका है। समस्त विश्व आजके वैज्ञानिक मनुष्यकी मुट्ठीमें है। संसारकी भौगोलिक सीमाएँ मिट चुकी हैं। काल और दूरीकी बाधाएँ लुप्त हो चुकी हैं। नयी दृष्टि और नये आदर्श प्रतिष्ठित हो चुके हैं। आजका मनुष्य समस्त अतीतको ललकार रहा है जिसकी चुनौतीके सम्मुख प्रकृति भी मस्तक झुका चुकी है। सृष्टिके गूढ़ रहस्योंके उद्‌घाटनसे लेकर जीवनके छोटे से छोटे क्षेत्रतक विज्ञानकी पहुँच हो चुकी है। हम आत्माकी अमरताका राग भले ही अलापते रहें पर आजके मनुष्यने उसी भाँति त्रैलोक्यको अपने चरणोंसे माप लिया है जिस प्रकार पुराणोंकी कथाके अनुसार नाप लिया था। छोटा है यह द्विपाद प्राणी पर विश्व उसके पैरों के नीचे है। कौन ऐसा मूढ़ होगा जो इस विभूति और इस महत्ताकी उपेक्षा कर सके। हमारे सामने दोनों पहलू वर्त्तमान हैं। हमारा अतीत हमारे पीछे है और विश्वका वर्त्तमान सम्मुख है। दोनोंमें दोष है, दोनोंमें विकार और कालिमा है, दोनोंकी उज्ज्वलता भी स्पष्ट है। हम दोनोंमें से किसी एककी भी न उपेक्षा कर सकते हैं और न उसके अस्तित्वको अस्वीकार। निश्चित है कि नव भारतका निर्माण इन दोनोंके बीचमें ही करना होगा।

कार्य कठिन है क्योंकि हम केवल एकको ग्रहणकरके दूसरेसे मुख नहीं मोड़ सकते। भारतको समन्वय करना है, चयन करना है और सामंजस्य स्थापित करके दृढ़ आधारपर नवीनताकी शिलाका न्यास करना है। ऐसे महत्त्वपूर्ण युगमें हमें प्रकाशकी आवश्यकता है और हमारे सौभाग्यसे महाप्रकाशपुञ्ज अब भी हमारे मध्यमें वर्तमान है। गांधीमें हम असाधारण रूपसे दोनोंका समन्वय पाते हैं। समन्वय ही नहीं हम उनके व्यक्तित्वमें दोनोंका उज्ज्वलांश व्यक्त देखते हैं और उन दोनोंके विकारका परि-

मार्जन करते देख रहे हैं। उनमें पश्चिमकी गति है, सक्रियता है, तेज और ओज है, तथा पूर्वका समय है, विवेक और तप है उत्साह और त्याग है। वह दृश्य जगत्को असत्य नहीं मानता पर अदृश्यकी सत्ता भी स्वीकार नहीं करता। वह आदर्शकी पूजा करता है, पर व्यवहारकी उपेक्षा नहीं करता, आदर्श और व्यवहारमें साम्य और सन्तुलन स्थापित करके दोनोंको एकमुखी बनाना उसके जीवनकी साधना है। आदर्श वह आदर्श नहीं जो व्यावहारिक न हो और व्यवहार वह व्यवहार नहीं जो आदर्श-का अनुगमन न कर सके। यह लोकोत्तर दृष्टि लेकर गांधीने उस महान् प्रयोगका सूत्रपात किया है जो भारतको अपने नवनिर्माण-के लिए एक दिशा दिखा रहा है। वह विज्ञानको स्वीकार करता है पर साधनके रूपमें; अर्थ और काम उसकी दृष्टिमें ग्राह्य हैं पर साध्य नहीं हैं। साध्य विकासका वह परम बिंदु है जिसकी ओर बढ़ना मानवजीवनका प्रयोजन है। उसकी दृष्टिमें जीवन और जगतकी सार्थकता इसी बातमें है कि वह उस लक्ष्यतक पहुँच सके और समस्त उपसर्ग ज्ञान और विज्ञान उस लक्ष्यतक पहुँचानेमें सहायक हो सकें। भारतको कुछ इसी बुनियादपर अपना भवन निर्मित करना है। उसे मनुष्यको मानवता प्रदान करनी है, और मनुष्य द्वारा उपार्जित एवं अर्जित ज्ञान तथा विज्ञानको उसीका साधन बनाना है। गांधी विज्ञान और अध्यात्मके समन्वयका पोषक और साधक है। भावी भारत-का निर्माण उसी विचारधारा और उसी दृष्टिके आधारपर होना चाहिये जिसकी अभिव्यक्ति गांधीजीमें दिखाई दे रही है। उन्होंने संसारके इतिहासमें अहिंसक विद्रोहकी अकल्पित कल्पनाको चरि-तार्थ करके दिखाया है। कदाचित् भारतको ही यह श्रेय प्राप्त हुआ है। उनके नेतृत्वमें मानव जातिके इतिहासमें नये अध्यायकी

रचना हुई है आज मनुष्यता अपनी शक्तिसे ही त्रस्त है। अपनी विभूतिके भारसे आकुल है। और अपने ऐश्वर्यसे विचूर्ण हो रही है। यदि भारत बापूके नेतृत्वमें उस नवजीवनकी रचना कर सका जिसका संकेत ऊपर किया गया है तो सम्भवतः उस जगत निर्माणका पथ प्रशस्त करनेका श्रेय भी प्राप्त करेगा जो आज मनुष्यकी पशुतासे नष्ट हुआ चाहता है। ईश्वर करे हमारा देश इस महर्षिके नेतृत्वमें उस श्रेयको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जिसका प्राप्त करना इसका अधिकार है।

गांधीजीकी क्रांतिशैली

गांधीजी नवसमाजकी रचना ऐसे आर्थिक संघटनके आधार पर करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य आर्थिक दृष्टिसे स्वतंत्र हो। यह आर्थिक स्वतंत्रता उसी स्थितिमें संभव है जब जीवनके लिए उपयोगी सामग्रियोंकी प्राप्तिमें मनुष्य यथासंभव स्वतंत्र हो। कमसे कम ऐसी सामग्रियोंकी उपलब्धिमें तो अवश्य ही स्वावलंबी रहें जो जीवनके अस्तित्वकी रक्षाके लिए नितान्त आवश्यक हैं। वह आर्थिक संघटनका रूप ऐसा चाहता है जिसमें उत्पादनके साधनों पर उत्पादकका अर्थात् व्यापक जनसमाजका अधिकार हो जिसके फलस्वरूप उत्पन्न पदार्थ और उपार्जित संपत्तिपर उसीका स्वामित्व हो। उत्पादन, वितरण और उपभोगकी शृंखलाएँ परस्पर इस प्रकार संबद्ध हों कि तीनों प्रक्रिया साथ-साथ चलें। उसी दशामें ऐसे आर्थिक संघटनकी उत्पत्ति हो सकती है जिसमें मुद्राको आधार बनाकर ऐसी अर्थनीतिकी रचना न हो सके, जिसमें पूँजी केन्द्रित होती है, शोषणका साधन बन जाती है, तथा तीव्र वर्ण-भेदके द्वारा उग्र वर्ण-स्वार्थ और वर्ण-संघर्षका प्रजनन कर देती है।

इसी कारण गांधीजी ऐसी उत्पादनकी प्रणाली ग्रहण करना चाहते हैं जिसकी व्यवस्थाका उत्तर-दायित्व भी सीधेसीधे उत्पादकके हाथोंमें हो। इसी कारण वे ग्रामीण समाजकी रचना

पर वारवार जोर देते हैं, विशाल और जनसंकुल नगरोंकी पद्धतिके विरुद्ध आवाज उठाते हैं और व्यापक उत्पादन करनेवाले कल-कारखानोंसे मुख मोड़नेकी सलाह देते हैं। वे चाहते हैं कि ग्रामीण समाजकी रचना हो जिससे उन्नत कृषि, कलामय कुटीर-व्यवसाय और सहयोगमूलक संघटनके आधार-पर उस समाजकी रचना हो सकेगी जिसमें अहिंसक तथा पारस्परिक सहयोगमूलक प्रवृत्तियाँ उदीयमान होंगी जो मनुष्य-को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिसे स्वतंत्रता प्रकाशन कर सकेंगी।

पूँजीवादसे विरोध क्यों ?

गांधीजीकी उपर्युक्त कल्पना प्रकृत्या उस पूँजीवादकी सर्वथा विरोधिनी है जिसपर आधुनिक जगत्‌का सारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संघटन स्थापित है। गांधीजी 'पूँजीवादी' के क्यों विरोधी हैं, यह भी क्या वतानेकी चीज है ? उसकी त्रुटियों और तद्भूत विषयका परिज्ञान आधुनिक मनुष्यको भलीभाँति हो चुका है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य उसके फलका आस्वादन करनेके लिए वाध्य हो चुका है। संक्षेपमें यदि पूँजीवादकी विवेचना करें तो कह सकते हैं कि उससे उत्पन्न आर्थिक असमानताने समाजके जीवनमें जो असामंजस्य और असंतुलन उत्पन्न कर दिया है, उससे भीषण परिणाम पैदा हुआ दिखाई दे रहा है। गहरा विक्षोभ और घोर अशान्तिका प्रवर्त्तन करनेका पाप पूँजीवादके ही सिर है। उसने लाभ उठानेकी जो प्रवृत्ति पैदा कर दी है वह भयावने शोषणका कारण हो रही है। एक ओर वैभव और दूसरी ओर अभावका रोमांचक नृत्य वसुंधराकी छातीपर हो रहा है। विलास और बुभुक्षा के पार-

स्परिक वर्षणसे प्रज्वलित अग्निमें मानव-समाज भस्म हुआ चाहता है। 'पूँजीवाद' ने सबसे बड़ा पाप यह किया है कि उसने 'लोकतंत्र' की हत्या कर डाली है और जनसमाज के निर्दलनका कारण हो गया है।

'पूँजीवाद'के कारण ही उत्पादनके साधन और उत्पादित सम्पत्तिपर अनुत्पादक वर्गका स्वामित्व स्थापित हुआ, अत्यधिक लाभ उठाना सम्भव हुआ, सरकारें एक वर्गकी चेरी बनीं, जिनमें शक्ति और अधिकारका भयावना केन्द्रीकरण हो गया। वर्ग-हितकी साधनामें इस शक्ति और अधिकारका उपयोग होना स्वाभाविक था जिसके फलस्वरूप आक्रमणशीलता तथा हिंसाका विशाल वितान पृथ्वीके व्योममें तन जाय। इस प्रणालीने ही माल खपानेके लिए साम्राज्योंकी ऐसी आवश्यकता उत्पन्न कर दी कि विभिन्न देशोंके महाजन और पूँजीपति वर्गने धरतीका कोना-कोना छान डाला और अनौद्योगिक राष्ट्रों और जातियोंका जीवनरस तक चूस डाला। इतने पर भी लाभ उठानेकी भूख उसकी समाप्त न हुई और उत्पादन इतना अधिक होता गया कि आज मालको खपानेके लिए एक धरती नहीं प्रत्युत सौर-मण्डलके कदाचित् अन्य ग्रहोंकी खोज करना भी आवश्यक हो गया है। महती धनराशि जो थोड़ेसे लोगोंकी सम्पत्ति बनकर रहती है, उसकी रक्षाके लिए, जो यंत्र उत्पादनके साधन थे, विनाशक और भीषण अस्त्र शस्त्रोंकी सृष्टि करनेके साधन भी बना दिये गये।

छुटकारा कैसे हो ?

पशुबलकी इस विभीषिका और लोभ तथा कामनाकी अग्निने धरतीको दीनता तथा दरिद्रताकी आगमें जला डाला है। इस

विपत्तिसे जगत्का छुटकारा तबतक भला कैसे हो सकता है जबतक इस व्यवस्थाका विलोप न हो जाय? जगत्के कल्याणके लिए ऐसी परिस्थिति अपेक्षित है जिसमें मनुष्यद्वारा मनुष्यका दोहन संभव न हो, उत्पादनके साधनोंपर उत्पादकका स्वामित्व हो और उत्पन्न पदार्थों तथा सम्पत्तिपर प्रभुता भी उत्पादककी ही स्थापित हो। केन्द्रित शक्तिकी वह सत्ता है, जो आज सरकारोंके रूपमें स्थापित जनाधिकार और जनस्वतन्त्रताका निर्दलन कर रही है। आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य अधिकाधिक अपने प्राकृतिक अधिकारोंका उपयोग कर सके स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने व्यक्तित्वका विकास कर सके। जगत्का समाज समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्वके आधारपर स्थापित हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में कोई राष्ट्र किसीका पराधीन न हो, सब अपने ढंगसे अपना विकास करनेका अवसर पावें, किसीके दलन और दोहनसे मुक्त हों। राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध सहयोग और सुरक्षाके आधारपर आश्रित हो तथा धरित्री भयावने युद्धों, रक्तपात, आक्रमणशीलता तथा विनाशसे त्राण पा जाय। पदार्थोंका निर्माण और व्यवसायका रूप ऐसा तो अवश्य हो कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सके, नितान्त आवश्यक सामग्रियोंकी उपलब्धिमें यथासंभव स्वावलम्बी हो, तथा उद्योगवादका आधार एकमात्र लाभ उठानेकी प्रवृत्तिके स्थानपर ऐसा हो, जिसमें मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए भी दूसरेके हित और दूसरे की आवश्यकताकी पूर्तिमें सहायक हो सके। अभिप्राय यह कि आर्थिक व्यवस्थाका आधार लोभ ही नहीं प्रत्युत सेवा भी हो, शोषण ही नहीं सहयोग भी हो।

गांधोजी चाहते क्या हैं ?

जगत् ऐसे सामाजिक जीवनकी भी अपेक्षा करता है जिसमें मनुष्यके कलुषांशके स्थानपर उसका उत्तमांश भी उत्तेजित और उज्जीवित हो सके। मनुष्य अपने सुखकी कल्पना केवल अपनी तृप्ति, भोगोंके भोग तथा विलासकी लोभलालसामें ही परिसमाप्त न कर दे, अपितु समस्तके हितमें अहंके हितको लय करनेमें ही जीवनकी सार्थकता और उसके रसको प्राप्त करे। जबतक मनुष्य इस प्रकारके जगत्की स्थापना नहीं करता तब-तक उसका कल्याण असम्भव है। पर जगत्की यह कल्पना 'पूँजीवाद' की प्रचलित परिपाटी और व्यवस्थासे उसकी आत्मा और स्वरूपसे सर्वथा प्रतिकूल है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। ऐसी स्थितिमें यदि उपर्युक्त प्रकारके जगत्की रचना करना है, यदि आजके जगत्को 'पूँजीवाद' के अभिशापसे मुक्त करना है तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि 'पूँजीवाद' का विसर्जन सर्वांशमें कर दिया जाय और उसके स्थानपर ऐसे समाजकी रचनाका बीज बोया जाय जो उसके दोषों और विकारोंसे सवथा मुक्त हो। गांधी आज इसी कारण 'पूँजीवाद' का मूलतः विरोधी है। वह विरोधी है उसके भाव और भेषका। वह विरोधी है उसके अंग उपांग और तद्भूत उप-सर्गोंका। वह विरोधी है वर्गभेदका और उसके आधार-पर निर्मित केन्द्रभूत शक्ति और अधिकार सत्ताका जिसका प्रतिनिधित्व आजका शासनचक्र कर रहा है। वह विरोधी है उन समस्त दृष्टिकोणों, धारणाओं और धाराओंका जिसपर आजका पाश्चात्य जगत् प्रतिष्ठित है। वह विरोधी है इस-लिए कि यह सारी व्यवस्था हिंसाकी प्रवृत्ति की है, जो बल-

पूर्वक मानवताको आक्रांत और निर्दलित कर रही है। वह विरोधी है इसलिए कि मनुष्यका प्रचण्ड परिपीड़न उसके द्वारा सम्भव होता है और परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न होती हैं जो मनुष्यके पशुको ही जगा देनेका कारण बनती हैं। फलतः बापू उपर्युक्त परिस्थितियोंके विघटन और विलोपका आकांक्षी है।

पर आकांक्षा मात्रसे आपका अभिप्राय सिद्ध नहीं हो सकता। पूँजीवादका विरोध करनेके लिए, आधुनिक परिस्थितियोंको पलट देनेके लिए और उसके स्थान पर नये समाजकी रचना करनेके लिए उचित उपाय और प्रभावकर पद्धतिकी आवश्यकता है। ऐसा उपाय होना चाहिये जो एक ओर आधुनिक व्यवस्थाको समाप्त करे तो दूसरी ओर नवनिर्माणके अर्थका संपादन करे। बापू अपनी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त चेष्टामें संलग्न होता है। दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत कर्मयोगी होनेके नाते उसके लिए यह आवश्यक था कि वह न केवल आकांक्षा करे वरन् अपनी इच्छाको क्रियाका रूप भी प्रदान करे। वह कौन सा उपाय उपस्थित करता है इसपर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

विषमताका उपचार

गांधी सीधेसादे ढंगसे विश्वकी समस्यापर दृष्टिपात करता है। किसी भी समस्याका समुचित और सर्वाङ्गीण समाधान उसी स्थितिमें संभव है, जब समस्याके मौलिक स्वरूपका दर्शन कर लिया जाय। प्रश्नकी पूरी विवेचना करनेके बाद और यह देखनेके बाद कि किन आधारभूत कारणोंका परिणाम समस्याके रूपमें मूर्तिमान हुआ है, यदि उपचार किया

जायेगा, तभी दोषका सर्वथा परिहार सम्भव हो सकता है। गांधी ऐसी ही समीक्षा और मौलिक निदान करनेका प्रयास करता है। 'पूँजीवाद' यदि सब अनर्थोंकी जड़ हो रहा है और यदि उसका निराकरण अभीष्ट है, तो यह देखना ही बुद्धि-सम्मत हो सकता है कि स्वतः पूँजीवाद किन कारणोंका परिणाम है। यदि वे कारण खोज निकाले जायँ और उनके परिहारका उपाय भी प्राप्त हो जाय तो स्पष्ट है कि परिणाम भूत स्थिति स्वयमेव ही पलट जायेगी।

गांधी जब इस दृष्टिसे 'पूँजीवाद' की विवेचना करता है तो किस परिणाम पर पहुँचता है? वह देखता है कि 'पूँजीवाद' ने जगतमें जिस भयावने केन्द्रीकरणकी सृष्टि कर दी है वह सारे अनर्थोंकी जड़ हो रही है। शक्ति और अधिकारका केन्द्रीकरण, पूँजी और वर्गहितका केन्द्रीकरण, उत्पादन, विनिमय और वितरणके साधनोंका केन्द्रीकरण, जगत्‌के विस्तृत भूभागोंका महान् साम्राज्योंके रूपमें केन्द्रीकरण, व्यापक जनसमाजको पराधीन, परिपीड़ित और दोहित बना रहा है। पर केन्द्रीकरण जिस पूँजीवादका परिणाम है वह पूँजीवाद स्वयं किन कारणोंका परिणाम है! स्पष्ट है कि वह परिणाम है उस यांत्रिक उत्पादन प्रणालीका जिसमें उत्पादनके साधनोंका केन्द्रीकरण करना आवश्यक होता है। यांत्रिक उत्पादनकी प्रणाली उत्पादनके साधनोंका केन्द्रीकरण हुए बिना चल ही नहीं सकती, इसका परिणाम केन्द्रित उत्पत्तिके रूपमें व्यक्त होता है।

ऐसे केन्द्रीभूत उत्पादनके साधन और उत्पन्न संपत्तिपर जब एक वर्गका स्वामित्व स्थापित हो जाता है और माल बेचकर लाभ उठाना उसके लिए संभव होता है तो एकत्र हुई धनराशि भी

उसकी संपत्ति बनती है और इस प्रकार पूँजीवादका सर्जन हो जाता है। अभिप्राय यह कि गांधी जब पूँजीवादके मूल कारणोंकी विवेचना करता है तो यह पाता है कि यह परिणाम है उस यांत्रिक उद्योगवादका जो उत्पत्तिके साधनोंका केन्द्रीकरण अनिवार्यतः कर देता है। पूँजीवाद तो वास्तवमें आधुनिक यंत्रवाद और यांत्रिक उत्पादन प्रणालीका भयावना उपसर्ग मात्र है, जिसने सारे सामाजिक जीवनको असंतुलित कर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है क्योंकि उत्पादनकी प्रणाली का बहुत बड़ा हाथ समाजकी रचना और उसके संघटनमें होता है।

यदि आजकी उत्पादनकी प्रणाली उत्पादनके साधनोंके केन्द्रीकरणके रूपमें व्यक्त है तो उस केन्द्रित-उत्पत्तिकी पद्धतिको चलानेके लिए संचालनकी जो व्यवस्था की जाती है, उसे भी केन्द्रित करना अनिवार्य हो जाता है। मनुष्यको जीवन-यापनके लिए आवश्यक पदार्थों की नितान्त आवश्यकता होती ही है पर जब उत्पादनका प्रचार केन्द्रित है तो वितरणकी भी पद्धति केन्द्रित हो जायगी। फलतः साधारण जनसमाज जीवन-यापनके लिए भी इसी केन्द्रीभूत सत्तापर अवलम्बित रहनेको बाध्य होता है। इस आर्थिक संघटनके फलस्वरूप समाजमें वर्गभेदका उत्पन्न होना अनिवार्य है जिसके आधार पर वर्गहितका उदय हो ही जायगा। जिस वर्गको केन्द्रित वैभव और सम्पत्तिका स्वामित्व प्राप्त रहेगा उसकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी ही कि अपने स्वार्थकी रक्षाके लिए उस शासन-तंत्र पर अधिकार स्थापित करके उसकी सारी शक्ति और प्रभुताको केन्द्रित कर देनेकी चेष्टा करे और इस प्रकार सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनके समस्त सूत्रोंको अपनी ही मुट्ठीमें कर ले।

उत्पादनका विकेन्द्रीकरण आवश्यक

तात्पर्य यह कि गांधीजी उत्पादनकी केन्द्रित प्रणालीको वर्तमान पूँजीवाद और 'शक्तिवाद' तथा जगत्के जनसमाजकी परतंत्रता और शोषणके मूल कारणके रूपमें पाते हैं। यदि पूँजीवादका विसर्जन आवश्यक है तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि उपर्युक्त मूलदोषका परिहार कर दिया जाय। उत्पादनकी वह शैली जो केन्द्रीकरण पर निर्भर करती है और परिणामस्वरूप चतुर्दिक केन्द्रीकरणपर ही सर्जन करती है, उसे पलटे विना उस पूँजीवादका विसर्जन सर्वांशमें संभव ही नहीं है जिससे आज धरा त्रस्त है। यदि पूँजीवादको मिटाना है और केन्द्रीकरणके विषसे मनुष्यको बचाना है तो उत्पादनकी ऐसी नयी पद्धति अपनानी होगी जो उत्पादनके प्रकारको विकेन्द्रित करती हो। उत्पादनकी क्रियाका विकेन्द्रीकरण होनेसे संपत्तिका विकेन्द्रीकरण होगा, जिसके फलस्वरूप पूँजीका संकलन हो ही न सकेगा। उत्पादन पद्धतिके विकेन्द्रीकरणका अर्थ ही यह है कि उत्पादनके साधनोंका विकेन्द्रीकरण इस प्रकार हो कि उत्पादक ही उसका स्वामी हो और उत्पन्न पदार्थ तथा उससे उपार्जित संपत्तिका मालिक भी वही हो।

इस प्रकार विकेन्द्रित उत्पादनके साधन और उत्पत्तिकी प्रणालीकी व्यवस्थाका उत्तरदायित्व उत्पादकके हाथमें आयेगा और वही उसका संचालक हो जायगा। गांधी देखता है कि उत्पत्तिके साधनोंका विकेन्द्रीकरण ही एकमात्र उपाय है जो पूँजीवाद तथा उसके समस्त अनर्थमूलक उपसर्गोंका परिहार कर कर सकेगा। विकेन्द्रित व्यवस्थाका परिणाम पूँजी और सम्पत्तिके विकेन्द्रीकरणमें व्यक्त होना अनिवार्य है। उससे वह स्थिति

उत्पन्न होगी जिसके फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्रमें वर्गोंके भेद और स्वार्थकी विभिन्नताका विसर्जन स्वयमेव होने लगेगा। उत्पत्तिके साधनोंकी विकेन्द्रित व्यवस्थामें अत्यधिक उत्पादन संभव ही नहीं है। फलतः मुनाफा कमानेकी प्रवृत्ति और लोभकी लालसा-को उलङ्ग होकर नृत्य करनेका अवसर ही न मिलेगा।

जब उत्पादन और खपतकी क्रियामें सामंजस्य स्थापित रहेगा तो निर्मित पदार्थोंको खपानेके लिए धरातलके सुदूर बाजारों और क्षेत्रोंके दोहनकी आवश्यकता ही कहाँ रह जायेगी और कहाँ रहेगी उत्पादनके लिए उस पूँजीकी आवश्यकता जो एक ओर स्वयं शोषणका साधन बनती है और दूसरी ओर अधिका-धिक वृद्धिको प्राप्त होती चलती है? ऐसी आर्थिक व्यवस्थाके आधारपर यदि समाजकी प्रतिष्ठा होगी तो उसमें पूँजीवादको पनपनेका अवसर ही नहीं मिल सकता और न वर्गहित आजके पुञ्जीभूतमें रह सकता है।

पूँजीपतिके लिए यदि पूँजीके द्वारा शोषणका अवसर न रह जाय, यदि उत्पादनकी केन्द्रित व्यवस्था विकेन्द्रित हो जाय तो फिर शासन-यंत्रमें वर्गमूलक हितके लिए शक्ति और अधिकार-को केन्द्रित करके भयावनी हिंसा और पशुबलके उपयोगकी आवश्यकता भी बाकी न बचेगी। दूसरी ओर समाजका जनवर्ग उत्पादनके साधनोंका स्वामी बनकर यदि जीवनास्तित्वके लिए अनिवार्य सामग्रियोंकी उपलब्धिमें स्वतंत्र हो जाय और अपनी भुजा तथा श्रमसे उपार्जित संपत्तिका स्वामी बन जाय तो अनि-वार्यतः उसे किसी केन्द्रित व्यवस्थाके परावलम्बनसे मुक्ति मिल जावेगी। स्पष्ट है कि जनसमाजका आर्थिक दोहन इस स्थितिमें संभव न हो सकेगा।

लोकतंत्रका उदय कैसे हो ?

दूसरी ओर शासनतंत्रका केन्द्रीकरण और उसके हाथमें जनवर्गके जीवनके संचालनकी सारी शक्ति और अधिकारका सामूहिक रूपसे समर्पण वह भयावनी विभीषिका है, जिसके रहते मनुष्यकी मुक्ति संभव दिखाई नहीं देती। केन्द्रित शासन-तंत्रके आधुनिक रूपका विघटन जबतक नहीं होता तबतक सच्चे लोकतंत्रका उदय कदापि नहीं हो सकता। समाज और व्यक्तिका जीवन जबतक किसी भी बाह्य और मस्तकोपविष्ट सत्ताके हस्तक्षेपका शिकार होता रहेगा तबतक मनुष्य उस नैतिक और प्राकृतिक अधिकारका उपभोग नहीं कर सकता जिसके आधार पर लोकतंत्रकी कल्पना की गयी थी। यह हस्तक्षेप जितना ही कम हो मनुष्य उतना ही अधिक स्वतंत्र होगा। मानव समाजके लिए आदर्श स्थिति तो वह है जब जन-जीवन बाह्य हस्तक्षेपसे सर्वथा निर्मुक्त हो जाय और प्रत्येक व्यक्ति समाजके लिए तथा समाज प्रत्येक व्यक्तिके लिए सहज भावसे एक दूसरेके पूरकके रूपमें जीवन-यापन कर सके। आदर्श कभी व्यावहारिक रूप ग्रहण करेगा और साकार सामने उपस्थित होगा या नहीं, इसका उत्तर कौन दे सकता है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदर्शकी ओर बढ़ते जानेमें ही मानवताका विकास है। आदर्शकी सम्प्राप्ति भले ही न हो, पर यथासंभव हिंसा, दलन तथा दोहनसे मुक्त होकर मनुष्य अधिकाधिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सके और अपने नैतिक अधिकारोंकी प्राप्ति कर पावे यही उसके लिए शोभाकी बात है। गांधीजीका प्रयोग इस दिशाकी ओर है। वह प्रयोग कर रहे हैं यह देखनेके लिए कि जगत्से

हिंसाका निराकरण अहिंसाके द्वारा किया जा सकता है या नहीं ? हिंसाकी भित्ति पर स्थापित आधुनिक समाजको समूल परिवर्तित करके अहिंसाके आधार पर उसकी स्थापना अहिंसाके द्वारा की जा सकती है या नहीं ? उसके लिए आवश्यकता है ऐसी पद्धतिकी, ऐसी अभिनव क्रान्तिशैलीकी जिसमें संघर्ष और सर्जन, विनाश और निर्माणकी दो धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हों। आज बापूने ऐसी ही पद्धतिका निर्माण किया है। संघर्ष वह वर्त्तमानसे करता है और सर्जन करता है उन उपादानोंका जिनसे एक ओर ऐसे वांछनीय वातावरण तथा उपयुक्त क्षेत्रका निर्माण हो सके जिसमें भावी समाजकी रचनाका बीज आरोपित किया जा सके, जिसके परिस्फुरणसे वह अवस्था संभूत हो जो समाजको अहिंसापर प्रतिष्ठित करनेका कारण हो सके।

क्रान्ति और शान्ति दोनों साथ-साथ

आज वह सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यके रूपमें संघर्ष और सर्जन दोनोंको साथसाथ ले चलकर क्रान्तिक्रियाको सर्वांश में परिपूर्ण करनेके महाप्रयोगमें लगे हुए हैं। इसी कारण गांधीके सत्याग्रह और उसके रचनात्मक कार्यक्रमका पारस्परिक सम्बन्ध अन्यान्याश्रय है। वे दोनों एक दूसरेके पूरक और सहायक हैं। इतना ही नहीं मैं तो यह देखता हूँ कि सत्याग्रह यद्यपि संघर्षात्मक है तथापि उसमें भी रचनात्मक प्रवृत्ति एक सीमा तक उपस्थित है। इसी प्रकार रचनात्मक पद्धति यद्यपि विधायक और सर्जनात्मक है तथापि उसमें एक सीमातक संघर्षकी प्रवृत्ति सन्निहित है। ध्यानपूर्वक यदि सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यके अन्तरमें स्थित मूलभावों और उनके मूल

स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिये तो उपर्युक्त बातें स्पष्ट ही झलक आयेंगी। सत्याग्रहके द्वारा अनीति और हिंसाका पोषण और पराधीनताको, सजीव सक्रिय प्रतिरोध करनेका मार्ग उपस्थित किया गया है। सत्याग्रहको व्यापक और महान् जनान्दोलनका रूप प्रदान करके उसे विद्रोहकी प्रतिमा बना देनेकी व्यवस्था की गयी है, पर उसमें अत्याचारी और हिंसकके माननीय और उत्तम अंशको जागृत करनेकी प्रवृत्ति भी सन्निहित है। उस जागरणके लिए सत्याग्रह स्वयं उत्सर्ग, कष्ट-सहन और तपके मार्गका अवलम्बन करता है। और इस प्रकार विरोधी वर्गको पुनीत उत्प्रेरणा प्रदान करने की, और संघर्षके सारे वातावरणको बदल देनेकी चेष्टा करता है।

वह इसके द्वारा न केवल हिंसाकी गतिके अवरोधकी आशा करता है प्रत्युत विश्वास करता है कि स्वयं हिंसकके शुभ्र अन्तरका उद्बोधन होगा जो उसे ही दूसरा मनुष्य बना देगा। यही सत्याग्रह का सर्जनात्मक अंश है। दूसरी ओर रचनात्मक कार्यके स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिये। चर्खाकी विचार-धाराके द्वारा वह शान्तिके साथ उस सारी व्यवस्था और उन सारे वर्गोंके आधारको ही नष्ट देना चाहता है जिनसे आजका जन-समाज परिपीड़ित है। गांधी किस प्रकार इस प्रक्रियाको सम्पादित करना चाहता है और चर्खेकी विचारधारामें स्थित उपर्युक्त प्रवृत्ति किस प्रकार सक्रिय रूप ग्रहण करती है इस संबंधमें पूरा प्रकाश डालनेकी चेष्टा की गयी है। सम्प्रति इतना ही कहना पर्याप्त है कि रचनात्मक कार्यमें उपर्युक्त विघटनात्मक अंश मौजूद हैं।

सैनिकका निर्माण

रचनात्मक कार्यक्रममें संघर्षकी प्रवृत्ति भी एक अंश तक उपस्थित है। सत्याग्रह के सात्विक संग्रामके लिए आवश्यकता है ऐसे नैष्ठिक सैनिकोंकी जो धरापर प्रवाहित कलुषकी धाराका सामना अपनी साधनाकी पवित्रतासे कर सकें। जब सत्याग्रह व्यापक और विराट् होकर जन-विद्रोहका रूप ग्रहण करता है तो आवश्यकता होती है दबे हुए, आर्त तथा त्रस्त जनवर्गके जागरणकी जो न्यायकी स्थापनाके लिए और अन्यायकी पराजयके लिए युद्ध-रत हो सके। विधायक कार्यक्रममें उस युद्धके लिए सैनिकका निर्माण करनेकी चेष्टा भी स्पष्ट ही है। साथ ही साथ जनवर्गकी जाग्रति और तैयारीका कार्य भी उसीके द्वारा सम्पादित हो सकता है। संघटन तथा युद्ध-दीक्षाका साधन भी वही होता है। अहिंसक संग्रामके लिए जिन सत्व भावों, दीप्त चरित्र और उज्वल हृदय तथा उद्दाम संकल्पकी आवश्यकता है उनका निर्माण करनेकी चेष्टा गांधी अपने विधायक कार्यक्रम द्वारा ही करता है।

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि गांधीकी क्रान्ति-शैलीमें विनाश और निर्माणकी प्रक्रिया न केवल साथ-साथ चलती है वल्कि संघर्षात्मक और रचनात्मक पद्धतियोंका सम्बन्ध अविच्छेद्य है, दोनों परस्परके पूरक और सहायक हैं और दोनोंमें एक दूसरेकी प्रवृत्ति समाविष्ट है। उसकी क्रान्ति-शैलीमें ही उसकी भावी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कल्पनाका मूर्त रूप एक बड़ी सीमातक व्यक्त हो जाता है। फलतः क्रान्ति और भविष्यकी रचनाका प्रयोग साथ-साथ चलता दिखाई देता है। यह है उसकी क्रान्ति-पद्धतिकी महती विशेषता

जिसकी तुलनामें जगत्‌की अबतक की कोई क्रान्ति नहीं टिक सकती।

गांधीकी दृष्टिमें यदि जगत्‌की सारी व्यवस्था अनीति और हिंसासे ओतप्रोत हो गयी है और यदि उसके परिवर्तनके लिए वह क्रान्ति अपेक्षित समझता है तो ऐसी क्रान्तिकी कल्पना भी करता है जो केवल वाह्यका परिवर्तन करके शान्त न हो जाय बल्कि सारे संसारको आधार सहित बदल दे। मनुष्यका पशु-पराजित मानव जाग्रत और परिस्थितियाँ तथा वातावरण ऐसा हो जाय, व्यवस्था और योजना वह रूप ग्रहण करे जिसमें पशु पोषित तथा विकसित हो ही न सके।

गांधीजीको ऐसे ही समाजकी रचना करनी है पर वे यह जानते हैं कि समाजके संघटनमें उत्पादनकी प्रणालीका बहुत बड़ा हाथ सदासे रहा है। उसके विकास और उसकी व्यवस्था-में भी उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कारण यह है कि मनुष्यकी नैसर्गिक शुभ या अशुभ प्रवृत्तियोंको प्रभावित और उत्तेजित करनेमें आर्थिक उत्पादनकी प्रणालीसे उद्भूत परिस्थिति बहुत कुछ सफल होती रही है। फिर मनुष्यकी प्रवृत्ति जो धारा पकड़ लेती है वह उसकी अर्थनीतिका सञ्चालन करने लगती है और व्यापक रूपसे समाजके जीवनकी सारी गति और उसके संग्रन्थन तथा स्वरूपको तदनुकूल बनाने लगती है। समाजके विकास और उसके परिवर्तनके इतिहासपर दृष्टि-पात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इस सामाजिक स्वरूपमें हुए परिवर्तनके अनेक कारणोंमें उत्पादनकी प्रणालीमें क्रमशः हुए परिवर्तन मुख्य कारण रहे हैं। जब समाजमें परिवर्तन होता है तो उससे व्यक्तिगत जीवन भी प्रभावित होता है

और नयी परिस्थितियाँ तथा नयी आवश्यकताएँ नयी धारणाओं और व्यवस्थाओंको जन्म प्रदान करती हैं।

उत्पादन-पद्धतिका प्रभाव देखकर ही मार्क्स इस परिणाम-पर पहुँचे हैं कि मनुष्य-जीवन और समाजके विकासका सारा इतिहास उत्पादनकी शैलीमें होनेवाले परिवर्तन और विकासका इतिहास है। उनका कहना है कि समाजकी सारी रचना उसका संघटन, युग-युगकी संस्कृति राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक विधान, उसकी कला, साहित्य और दर्शन, यहाँ तक कि जीवनका एक एक अंग-प्रत्यंग उत्पादनकी प्रणालीसे संभूत परिस्थिति और संघटनसे ही परिचालित और पोषित होते रहे हैं। उनकी दृष्टिमें वे सब आर्थिक संघटनके ही प्रतिबिम्ब होते रहे हैं। इतिहासकी यह आर्थिक व्यवस्था यद्यपि एकाङ्गी है जो एक ही पहलूपर अत्यधिक जोर देकर अतिवादका रूप ग्रहण करती है, फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि अन्य अनेक कारणोंमें उत्पादनकी पद्धति भी एक बहुत बड़ा कारण है, जिसका परिणाम समाजके संघटन और स्वरूपमें प्रकट होता है।

गांधीजी भी समाज-रचनाके इस मौलिक तत्त्वसे भली-भाँति परिचित हैं। यही कारण है कि उनके रचनात्मक कार्यक्रम-में उनकी आर्थिक योजना केन्द्रमें प्रतिष्ठित है। वे जानते हैं कि मानव-समाज आवश्यक पदार्थोंकी खोज जीवन-निर्वाहके लिए करता ही है और उनका उत्पादन करनेके लिए बाध्य होता है। आज जो उत्पादनकी पद्धतिका प्रभाव व्यक्ति तथा जीवनके ऊपर है और उसका जो परिणाम हो रहा है उसे वे अपनी विशेष दृष्टिसे देखते हैं। वे देखते हैं कि यूरोपके 'भौतिकवाद' के गर्भसे 'भोगवाद' और 'कामनावाद' का

प्रजनन होना स्वाभाविक था। विज्ञानकी कृपासे उत्पादनके साधनों में जो अकल्पित परिवर्तन हुए उन्होंने इस 'भोगवाद' को और अधिक उत्तेजन प्रदान किया। विज्ञान द्वारा अन्विष्ट उत्पादनकी आन्तरिक प्रणालीने जगत्के समाजिक जीवनको एकबारगी नयी दिशा प्रदान कर दी। उसने जो परिस्थिति उत्पन्न की, मनुष्यको जो साधन प्रदान किये, उसके सम्मुख विभव और विलास का जो भंडार उपस्थित कर दिया, व्यक्ति और व्यक्तिमें, आदान-प्रदानके उसके तरीकेमें जो नया संबंध स्थापित करके जो नयी अवस्था उत्पन्न कर दी उन सबने मिलकर सामाजिक जीवन, संघटन और व्यवस्थाको नया स्वरूप प्रदान कर दिया।

विज्ञानकी कृपासे आर्थिक क्षेत्रमें यह सब हुआ पर एक बात न हो सकी। दृश्य पार्थिव जगत्की ओर, उसके विचित्र और मनोरम रहस्योंके उद्घाटनकी ओर तो विज्ञानने ध्यान दिया और सफलता प्राप्त की, पर मनुष्यको बाहर भीतर समझनेका प्रयास वह न कर सका। जो कुछ समझा वह केवल इतना ही समझा कि बाह्य ही मुख्य है और अन्तरका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। चेतन भी जड़ोद्भूत जड़का ही परिणाम है। इस दृष्टिकोणका व्यापक और गहरा प्रभाव आजके जीवन पर हुआ। इस दृष्टिको लेकर विज्ञानने यांत्रिक संस्कृतिका निर्माण तो कर दिया, पर मनुष्यकी रचना और उसका संस्कार न कर सका। असंस्कृत मानवके सामने प्रलो-भनके अकल्पित साधन भी प्रस्तुत कर दिये गये। यदि इच्छा-ओंकी पूर्तिमात्रमें ही सुखकी कल्पना करनेवाले लोगोंके सामने अपरिमित भोगके अनन्त उपकरणों का असाधारण भंडार उपस्थित हो गया हो, यदि वैभव और शक्तिका संयम उनके

हाथोंमें होने लगा हो तो उसका परिणाम कैसा विघातक होगा इसकी कल्पना कर लेना अधिक कठिन नहीं है। प्रलोभनकी सामग्रियोंके सामने रहते हुए प्रलुब्ध न होना वैसे ही अत्यन्त दुष्कर होता है। फिर जिन्होंने एकमात्र भोगको ही जीवनकी साधना समझ ली हो उनकी गति क्या होगी ? जिनके हाथोंमें शक्ति, अधिकार और विभूति-पुञ्ज आ टपका हो वे उसकी रक्षा और योगके लिए हिंसा, अपहरण और दलनका आश्रय न लेंगे तो क्या करेंगे ?

दुर्भाग्यसे आज धरित्रीका भाग्य-सूत्र पश्चिमके हाथमें है। वहाँके जीवनका पथ, समाजका आधार, मनुष्यको परिवेष्टित कर रखनेवाला वातावरण, वहाँकी सारी परिस्थिति इसी 'कामनावाद' और हिंसासे ओतप्रोत, परिपुष्ट और परिपूर्ण हो गयी है। यूरोपसे प्रवाहित विषकी यह धारा धरतीके कोने-कोने तक पहुँचने लगी है। गांधीकी दृष्टिमें वर्तमानका यही स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहा है। आज जहाँ उपर्युक्त धाराके प्रवाहका अवरोध अपेक्षित है वहीं ऐसे नये समाजकी रचना भी वांछनीय है जो मनुष्यके उत्तमताका प्रतिबिम्ब हो। इसके लिए एक ओर जहाँ मनुष्यके उज्वल अंतरलोकका स्पर्श करना आवश्यक है, जहाँ उसे मानवीय और संस्कृत बनाना जरूरी है, वहीं दूसरी ओर पद्धतियों और प्रणालियोंका संपूर्ण परिहार भी जरूरी है जिनके उदरसे उत्पन्न परिस्थिति धरातलको सम्प्रति त्रस्त और उत्पीड़ित कर रही है। मनुष्य और परिस्थिति दोनोंके परिवर्तनके बिना उस जीवन और उस समाजका उद्भव संभव नहीं है जो पृथ्वीका परिशोधन करनेमें समर्थ होगा। मानव और परिस्थिति यदि परस्पर को प्रभावित

करते हैं तो केवल एकको ग्रहण और दूसरेकी उपेक्षा करनेसे समस्या हल नहीं हो सकती।

अभीष्टकी सिद्धि उसी समय संभव है जब प्रश्नके दोनों पहलुओंपर समान रूपसे ध्यान दिया जाय। गांधी उपर्युक्त प्रकारके समाजकी ही कल्पना करता है और यूरोपसे बहनेवाली विषैली धाराके मार्गको अवरुद्ध भी करना चाहता है। रचनात्मक कार्यक्रममें उसकी वही कल्पना और विचारधारा प्रतिष्ठित है। अपने रचनात्मक कार्यक्रममें अपनी आर्थिक योजनाको उसका आधार बनाकर वह उत्पादनकी प्रणालीके उस प्रभावको स्वीकार करता है जो व्यक्ति और समाजके जीवनको प्रभावित करता है। मनुष्यके साथ-साथ उसकी परिस्थतिको बदल देनेका जो उपाय उसने ढूँढ़ निकाला है उसकी अभिव्यक्ति सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यरूपमें हो रही है। अपने प्रयोगके लिए वह अधिकार और शक्तिको अपने हाथोंमें आ जानेकी राह नहीं देखता। राह देख भी नहीं सकता, क्योंकि उसकी पद्धति न केवल अहिंसात्मक है प्रत्युत उसका प्रयोग यदि सफल हो तो उसका परिणाम ही होगा शक्ति और अधिकारसत्ताके आधुनिक स्वरूपका विघटन। फलतः वह परिमित क्षेत्रमें प्रयोग आरंभ करता है और परिणामके प्रकाशमें अपने उपायकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का निर्णय करना चाहता है। यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो अहिंसाकी विजय होगी जिसके फलस्वरूप अहिंसाके आधार पर नवसमाजकी प्रतिष्ठा होगी। उस समय मोहित, आर्त और पथभ्रष्ट मानवताके सामने मुक्तिका मार्ग उपस्थित होगा। और यदि असफल हुआ तो भी मानव रक्तसे अपने प्रयोगको सिंचित करनेके पापसे बच ही जायगा।

गाँधीजीपर बहुधा यह दोष लगाया जाता है कि वह नैतिकता और राजनीतिका आवश्यक और अवांछनीय तथा अहितकर सम्मिश्रण कर रहे हैं। कहा जाता है कि धर्म और राजनीतिके क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं जो बहुधा परस्परके प्रति विरोध भी पैदा करते हैं। गांधीजीने इन दोनोंको मिलाकर ऐसे जटिल गोरख-धंधेकी रचना कर दी है जिससे निकल पाना असंभव हो जाता है। परिणामतः न धर्म सधता है और न राजनीति। यह बड़ा व्यापक और प्रचलित आक्षेप है जो बहुधा गांधीजीपर कर दिया जाता है। पर गंभीरतापूर्वक इसकी विवेचना कीजिये और देखिये तो सही कि इस आक्षेपमें क्या कुछ तथ्य भी है? मैं तो यह समझता हूँ कि जो लोग यह कह दिया करते हैं कि गांधीजीने धर्म और राजनीतिको मिला दिया है वे संभवतः स्वयम् ही यह नहीं समझ पाते कि वे जो कुछ कह रहे हैं उसका अर्थ क्या है? मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि आज धर्म शब्दका प्रयोग जिस साधारण अर्थमें किया जाता है वह क्या है?

क्या सैकड़ों प्रकारके साम्प्रदायिक धर्मोंकी विविध धारणाओं, उनके कर्मकाण्ड के प्रपंचपूर्ण क्रिया-कलापों, अंधरूढ़ियों, निर्जीव रीति-रिवाजों और अंधविश्वासपर स्थापित आचार-विचारोंके विस्तारको ही साधारणतः धर्मका नाम नहीं प्रदान कर दिया गया है? मैं पूछता हूँ कि गांधीजीने कब इन धर्मोंसे राजनीतिका सम्बन्ध जोड़ा है? यदि नहीं तो फिर उपर्युक्त प्रकारके आक्षेप करनेका क्या अर्थ है? क्या सत्य और अहिंसाको राजनीतिमें लाने के कारण उनपर यह आक्षेप किया जाता है? क्या चरित्रके विकास पर गांधीजीका जोर देना इस भ्रान्तिका कारण है? आत्मशुद्धि और आदर्शपूजा, संयम और कष्ट-सहन, त्याग और उत्सर्ग, सरलता और छद्महीनता आदिकी प्रवृत्तियोंके उदयपर जोर देने तथा

अपनी पद्धतिमें उसका समावेश करनेके कारण उनपर यह आक्षेप किया जाता है ? संभवतः इसके उत्तरमें 'हाँ' कहा जायेगा, क्योंकि व्यापक रूपसे फैली हुई उस धारणाके सर्वथा यह प्रतिकूल है जिसके अनुसार यह समझा जाता है कि राजनीतिका अर्थ छल और धूर्तताके सिवा और कुछ नहीं है।

ऐसा क्यों ?

ऐसा उत्तर देनेवालोंसे मैं यह पूछना चाहता हूँ कि वे यह बतावें कि आखिरकार वे चाहते क्या हैं ? राजनीतिका क्षोभ आज इतना व्यापक हो गया है कि वह मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके अंग-प्रत्यंगका निर्धारण करने लगा है। क्या वे लोग यह चाहते हैं कि उस राजनीतिमें जिसका महत्वपूर्ण स्थान हो गया है, असत्य और हिंसाका साम्राज्य छाया रहे ? क्या यही अपेक्षित है कि सारा राजनीतिक व्यवहार और उसकी सारी व्यवस्था तथा विधान पाखंड और धूर्ततापर, छल और प्रवंचनपर 'स्वार्थपूजा और अहंकारपर, निरंकुशता और ईर्ष्या पर स्थापित रहे ? क्या यही अभीष्ट है कि राजनीतिक आचरण और नीतिका आधार पारस्परिक अविश्वास और कुटिलता बनी रहे और इसीमें राजनीतिक कौशल समझा जाय ?

जो साहसके साथ कह सकते हों कि उपर्युक्त बातोंको ही वस्तुतः राजनीतिका आधार होना चाहिए उनकी दृष्टिमें गांधीजी अवश्य अपराधी हैं। वे प्रसन्नतापूर्वक गांधीजीको दंडनीय मानें और मानवतासे शत्रुता करनेमें ही तुष्ट रहें। पर जो इसकी घोषणा नहीं कर सकते और न उपर्युक्त बातोंको वाञ्छनीय समझते हैं, उनके लिए बापूपर दोषारोपण करनेका कोई कारण नहीं है। यूरोपमें धर्म और राजनीतिको अलग करने और उन दोनोंमें

विरोध देखनेका विचार और प्रवृत्ति विशेष स्थिति और आवश्य-कताके कारण उत्पन्न हुई थी। यूरोपमें एक युग था जब ईसाई-धर्मकी तूती बोलती थी। उस समय धर्मगुरुओं और मठ महन्तों तथा पुरोहितों और पोपोंकी सत्ता सामाजिक जीवनपर छायी थी। दूसरी ओर निरंकुश राजाओं और सामंतोंकी राजसत्ता थी।

एक ही क्षोभकी सीमाके अन्दर दो स्वतंत्र अधिकार-सत्ताओं-का अस्तित्व एक ऐसी अप्राकृतिक स्थिति उत्पन्न करनेका कारण हुआ था, जो सामाजिक जीवन को क्षत-विक्षत कर रहा था। जहाँ दो अधिकार सत्ताएँ होंगी वहाँ शक्तिविस्तारके लिए पार-स्परिक प्रतिस्पर्धा अनिवार्य है।

यह अन्याय है!

इतिहास इस बातका साक्षी है कि यूरोपकी भूमि एक युग-तक इस संघर्षसे परिपीड़ित रही है। फलतः समय पाकर धर्म और राजनीतिको दो पृथक् क्षेत्रोंमें बाँट देनेका विचार उपजा जो न केवल उपर्युक्त स्थितिका अनिवार्य परिणाम था, प्रत्युत सामा-जिक जीवनकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए इच्छित साधन था। वही प्रचलित विचार आज भी राजनीतिक विचार-क्षेत्रपर छाया हुआ है। गांधीजीकी विचारधाराको धर्म और राजनीतिको मिश्रित करदेनेवाली बताना वस्तुतः न केवल निराधार है प्रत्युत अपने अज्ञानका परिचय देना है। वे धर्म और राजनीतिको कहाँ उस प्रकार मिला रहे हैं जिस प्रकार वह किसी युगमें यूरोपमें मिली हुई थी?

यह सच है कि अनीति, अत्याचार और हिंसाका निराकरण करनेके लिए बापू ऐसी पद्धतिका आश्रय ग्रहण करते हैं जो नैतिक

हो, शुभ हो और मानवीय हो। वह देखते हैं कि नीति और हिंसाका लोप अनीति और हिंसाके द्वारा होता ही नहीं। इष्ट साध्यकी सिद्धिके लिए विपरीत तथा अनुचित पंथका अवलम्बन करके सफलता-प्राप्तिकी आशा करना विशुद्ध आत्मप्रवंचन और कोरी मूर्खता है। यदि नीति और अहिंसाके बिना मानव समाजका कल्याण नहीं है, यदि वही उसकी प्रगति और विकासका पथ है, तो उसकी स्थापनाके लिए नीति और अहिंसाका ही मार्ग पकड़ना होगा। इसी धारणाके आधार पर गांधीजीकी अलौकिक प्रतिभा और प्रवुद्ध अन्तर चेतनने यह मार्ग ढूँढ़ निकाला। इसे धर्म और राजनीतिको मिला देना घोषित करना न उचित है, न न्यायकी बात।

यदि नीति और अहिंसा ऐसे शब्द हैं तथा उनमें ऐसे भाव भरे हैं जिन्हें धर्मोंने प्रयुक्त और प्रतिपादित किया है तो इसके लिए गांधीजीपर यह दोष लगाना कि राजनीति और धर्मको मिला रहे हैं, अर्थका अनर्थ करना है। मनुष्य-जीवनमें कुछ वातें निसर्गतः निहित हैं जो उसका मूल्याङ्कन करती हैं। वह उन वातोंकी उपेक्षा नहीं कर सकता। भले ही मनुष्य अपनी सीमितता तथा दुर्वलताके कारण उन आदर्शोंका अनुगमन पूर्णरूपसे न कर सकता हो तथापि वह उन्हें मूल्यवान् समझता है और उनके प्रकाशमें जीवनके लिए विधिनिषेधकी रचना करता रहता है। अपनी दुर्वलताके कारण विधिसे विपरीत दिशाकी ओर वहुधा वह जाने पर भी वह निषेधको ही उचित नहीं कहता। निषेधात्मक कार्यका औचित्य सिद्ध करनेका हठ मनुष्य अवश्य दिखाता है, पर उस औचित्यको भी किसी न किसी प्रकार खींच-तानकर विधिके प्रकाश और आवरणमें ही सिद्ध करना चाहता है।

मानव जीवनकी यही मर्यादा दिखाई देती है। यही कारण है कि सत्य, अहिंसा आदिके आदर्शोंने मानवताकी यात्रामें मनुष्यके संमुख अजर, अमर, सनातन, नैतिक आदर्शका रूप ग्रहण कर लिया है। नैतिक आदर्शोंका अस्तित्व स्वतंत्र है। सभी धर्मोंने उन्हें अपना मुख्य अंग सदासे बनाया है। वास्तवमें वे जीवनमें मूलभूत तत्वके रूपमें उपस्थित हैं। फलतः जीवनसे संबंध रखनेवाले किसी विषय द्वारा उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। धर्म हो या राजनीति, समाजनीति हो या अर्थनीति, व्यक्तिगत जीवन हो या सामाजिक, सबकी प्रतिष्ठा उन नैतिक आदर्शों पर करनेकी चेष्टा युग-युगसे होती चली आ रही है। क्या कोई राजनीतिक नेता यह घोषणा करनेका साहस कर सकता है कि वह कुशल राजनीतिज्ञ है? इसलिए कि उसकी सारी राजनीति असत्य, प्रवंचन और धूर्तताके आधार पर स्थापित है? क्या कोई राजनीतिक कार्यक्रम, नीति या व्यवस्था खुल्लम-खुल्ला हिंसा, छल अथवा स्वार्थपर स्थापित उद्घोषित करके उपस्थित की जा सकती है? मानता हूँ कि कुटिलता, छद्म और स्वार्थ भावोंसे प्रेरित होकर ही आजकी दुनियामें राजनीतिक नीतिका संचालन किया जाता है, पर साथ ही यह भी मानना होगा कि नीति-संचालक उसके प्रकृत रूपको छिपानेकी चेष्टा करते हैं और परम पुनीत तथा नैतिक आदर्शों पर स्थापित प्रकट करनेकी चेष्टा करते हैं।

स्थितिका स्पष्टीकरण

आक्रमण करते हुए, किसीकी स्वतंत्रताका अपहरण करते हुए अथवा किसीका निर्दलन करते हुए आज भी राजनीतिक विधियाँ और विधान अपना नैतिक आधार खोजते हैं; क्योंकि उसके बिना

उनका अस्तित्व भी खतरेमें पड़ जाता है। आखिरकार ये बातें क्या सिद्ध कर रही हैं? कुटिलता, धूर्तता और स्वार्थको भी नैतिकताके आवरणमें ढँकनेकी चेष्टा करना ही क्या यह सिद्ध नहीं करता है कि मनुष्यके जीवनमें उसका वह मूल्य है जिससे वह जीवन संबंधी सभी बातोंको भाँपता है। अपनी कमजोरीके कारण पथसे विरत हो जाने पर भी मनुष्य उससे प्रभावित रहता है; क्योंकि वह सहज ही उसकी ओर उन्मुख रहता है। इस स्थितिमें बापू यदि उन्हीं नैतिक आदर्शोंका समावेश सचाई और ईमानदारीके साथ अपनी राजनीतिमें करते हैं और उन्हींको आधार बनाकर अपने कार्यक्रमकी स्थापना करते हैं तो मैं पूछता हूँ कि वह कौनसी असाधारण, अहितकर तथा विघातक बात करते हैं? इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी नीति, पद्धति और कार्यक्रमकी यह विशेषता अवश्य है कि वे उन्हें नैतिक आदर्शों पर स्थापित करते हैं। वे समझते हैं कि आजके जगत्को इसीकी आवश्यकता है। पाखंड पर स्थापित आधुनिक राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति तथा सामूहिक रूपसे सारी सांस्कृतिक धाराको उससे मुक्त करनेमें ही वह जगत्का कल्याण देखते हैं। फलतः वे सत्यका प्रकाश लेकर आगे बढ़ते हैं जिसके सम्मुख कुटिल राजनीतिका सारा असत्या-न्धकार लुप्त होता दिखाई देता है।

गांधीजीकी इस योजना पर बहुधा लोग यह कह दिया करते हैं कि महात्माजी संत हैं, अतः उनकी दृष्टि विशुद्ध नैतिक और आदर्शवादी है। पर जैसा कि पूर्वमें कह चुका हूँ गांधी यदि संत हैं तो संत होते हुए भी जीवनकी मर्यादाओंसे अपरि-चित नहीं हैं। नैतिकताका आधार उन्होंने केवल अपने संतत्वके कारण ग्रहण नहीं किया है। इसका आशय ग्रहण करके उन्होंने

कुशल राजनीतिज्ञता और ठोस यथार्थवादिताका परिचय दिया है। बड़े-बड़े धूर्तों और प्रवंचकोंसे प्रताड़ित तथा विकल हुई वसुधाका त्राण इसीमें है कि सत्य और नीतिके प्रकाशसे उनके द्वारा रचित सारे कुचक्रोंका भेदन कर दिया जाय। जो कुटिलता और छलमें पटु तथा प्रवीण हैं, उनका सामना छल और कुटिलतासे करना और उसमें सफल होना यदि असंभव नहीं तो अतिकठिन अवश्य है। ऐसोंको उस अस्त्रसे परास्त करना है जिसका न उन्हें ज्ञान है और न जिसकी काट करना उन्होंने सीखा है। इस दृष्टिसे गांधीजीने कुशल राजनीतिज्ञ होनेका परिचय दिया है, जो ऐसी नीतिका प्रयोग कर रहे हैं जिसके सम्मुख छल और प्रपंच ठहर नहीं पाते।

एक स्थानपर गांधीजी स्वयं कहते हैं "मुझे संतत्वका परिधान पहनाना यदि संभव हो तो भी ऐसा करना उचित न होगा। मैं स्वयं अपनेमें संतत्वकी अनुभूति नहीं करता पर इतना अनुभव मैं अवश्य करता हूँ कि अपनी सारी दुर्बलताओं और सारे बंधनों तथा मर्यादाओंके रहते हुए भी मैं सत्यका पुजारी हूँ। यह भी सत्य है कि सन्तके बानेमें कोई राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। पर मैं इतना जानता हूँ कि सत्यसे बढ़कर न कोई ज्ञान है और न उससे बड़ी कोई बुद्धि। फलतः उसके प्रकाशमें किये गये मेरे कार्य कभी-कभी अत्यंत राजनीतिज्ञतापूर्ण दिखाई देते हैं। मैं तो यह समझता हूँ कि सत्य और अहिंसाको छोड़कर न मेरे पास कोई नीति है और न कोई नीति मैं जानता हूँ।" मैं समझता हूँ कि उस मानव-समाजके लिए, जो पाखण्डियोंकी छलपूर्ण नीतिसे त्रस्त है, अपनी रक्षा करनेका नवीन उपाय गांधीजी ने उपस्थित किया है। राजनीतिक विद्रोह, जनसंघर्ष तथा राजनीतिक कार्यक्रमको नैतिकताके आधारपर स्थापित करना ही गांधीजीकी

भारी देन है। उसके प्रयोगकी सफलतामें सत्यकी सफलता और पाखण्ड तथा प्रवंचनसे राजनीतिकी मुक्ति है।

भ्रमात्मक धारणाएँ

गांधीजीकी अहिंसाके सम्बन्धमें विभिन्न और विचित्र प्रकारकी भ्रान्तियाँ भी फैली हुई हैं। बहुधा यूरोपियन विचारक उसकी पद्धतिके स्वरूपको न समझ सकनेके कारण यह समझते हैं कि गांधीजीकी नैतिकतामूलक प्रणाली वास्तवमें राजनीतिका ही बहिष्कार कर देती है, क्योंकि गांधीजीकी दृष्टिमें सारी राजनीति ही अनैतिक है। ऐसी भ्रान्तिका एक छोटासा उदाहरण उपस्थित कर देना अनुचित न होगा। इन पंक्तियोंका लेखक श्री ई० एच० कार द्वारा लिखी पुस्तक 'बीस वर्षीय संकट' में एक स्थानपर गांधीजीका नामोल्लेख देखकर उत्सुक हो उठा। उसे यह जाननेकी इच्छा हुई कि यह प्रसिद्ध लेखक बापूके सम्बन्धमें कौनसे विचार प्रकट करता है। पर जो कुछ पढ़ा उसपर हँसी भी आयी और उस पुस्तकके लेखकके अज्ञान तथा उसकी बुद्धि पर दया भी।

वह लिखता है "राजनीतिमें नैतिकता एक ओर और शक्ति तथा प्रभुताकी भावना दूसरी ओर पृथक् पृथक् रूपसे कितनी समाविष्ट है और राजनीति उनके द्वारा कितनी प्रभावित तथा सञ्चालित होती है, इसकी विवेचना करनेके पूर्व हमें ऐसे लोगोंके विचारोंको भी देख लेना है जो यथार्थवादी न होते हुए भी यह समझते हैं कि राजनीतिका आधार केवल शक्ति तथा प्रभुता है और यह विश्वास करते हैं कि सारी नैतिक कल्पना और भावनाको राजनीतिक क्षेत्रसे पूर्णतः अलग रखना चाहिये। इनके मतसे राजनीति और नैतिकतामें सहज ही वैपरीत्य है, अतः नैतिक मनुष्य राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता। यह सिद्धान्त

तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। इसका सबसे सरल और साधारण रूप तो अप्रतिरोधके सिद्धान्तमें प्रकट होता है। नैतिक मनुष्य राजनीतिक प्रभुताके अस्तित्वको पाप और अशुभके रूपमें देखता है, पर इस शक्तिका प्रतिरोध शक्तिके द्वारा करना उससे भी अधिक महान् पातक समझता है। यही धारणा और विचार गांधीजी ऐसे लोगोंके अप्रतिरोधके सिद्धान्तके आधार हैं। संक्षेपमें इस सिद्धान्तका अर्थ होता है राजनीतिक बहिष्कार कर देना।"

'कार' महोदयकी उपर्युक्त विचारशृंखलापर क्या कुछ टीका करनेकी आवश्यकता है? गांधीजीको और उनके सिद्धान्तको वे दूरसे भी न समझ सके। वे यह न समझ सके कि गांधीजी उन लोगोंमें नहीं हैं जो नैतिकताको राजनीतिके क्षेत्रसे अलग रखना चाहते हैं और न वह उन लोगोंमें हैं जो बुराई या पापका प्रतिरोध करना पाप समझते हैं। वह उन लोगोंमें भी नहीं हैं जो राजनीतिका बहिष्कार करनेमें सन्तोष पाते हैं। वास्तवमें गांधीजी का सिद्धान्त 'कार' महोदयकी उपर्युक्त तीनों धारणाओंके सर्वथा विरुद्ध है। वे राजनीतिको नैतिक क्षेत्रसे अलग नहीं रखना चाहते प्रत्युत सारी राजनीतिको नैतिकता के आधारपर ही स्थापित करना चाहते हैं। वे विरोधी हैं उन लोगोंके जो यह कहते हैं कि राजनीतिको नैतिक क्षेत्रसे सर्वथा पृथक् कर देना चाहिये। गांधीजीकी दृष्टिमें जीवन और जगत्के संचालनके लिए किसी दृढ़ तथा चिरन्तन नैतिक विधानका आलोक स्पष्ट झलकता है। जीवनके किसी अंगकी उसकी सीमासे बाहर रखनेकी चेष्टा करना उसकी दृष्टिमें केवल अनुचित है अपितु भयावह भी है।

ांधीजीकी साधना

यह समझना कि उनका सिद्धान्त अप्रतिरोधका है, मूढ़ता ौर अज्ञानकी पराकाष्ठा है। बापू तो जन्मजात प्रतिरोधी हैं नका सारा जीवन संघर्षमें ही बीता है। उनका सिद्धान्त तिरोध भावनाकी सजीव अभिव्यक्ति है। जगत्में छायी हुई नैतिकता, अमानवता और अशुभका सतत, दृढ़ तथा अविच- लत विरोध करना और उसके विरुद्ध व्यापक विद्रोहानल प्रज्व- लत कर देना ही तो उनकी साधना है। हाँ, इतना अवश्य ीकार करना होगा कि उनकी प्रतिरोधात्मक शैलीकी अपनी शेषता है। वह बुराईका बुराईसे, हिंसाका हिंसासे, अनीतिका नीतिसे परिहार करना सम्भव ही नहीं समझते। वे सी शक्तिका सञ्चय करते हैं जो लक्ष्यकी वास्तविक सिद्धिमें हायक हो। नैतिक बलका आश्रय ग्रहण करके वे जगतकी मस्त पशु-शक्तिका मुकाबिला करनेके लिए आगे बढ़ते हैं और त्य तथा अन्यायकी विजयमें दृढ़ आस्था रखकर आततायीकी ारी बर्बरता और निरंकुशताके सम्मुख अटल गिरिश्रृंगकी भांति स्तक ऊँचा किये खड़े दिखाई देते हैं।

जीवनमें राजनीतिका स्थान

राजनीति मनुष्यके सामाजिक जीवनमें महत्वपूर्णस्थान खती है। समाज और व्यक्तिका सम्बन्ध, दोनोंके पारस्परिक ाचरण, दोनोंके अधिकार और कर्त्तव्यकी विवेचना ही तो राज- ीतिका विषय है। फिर जो विषय जीवनके इस आवश्यक अंगसे म्बन्ध रखता हो वह नैतिकताके क्षेत्रसे कैसे बाहर रखा जा कता है? स्मरण रखना चाहिये कि गांधी नैतिकताको ीवनका आधार और उसकी सञ्चालिका तथा नियामिका

शक्तिके रूपमें देखता है। फलतः उसकी दृष्टिमें राजनीति और नैतिकता परस्पर पृथक नहीं अपितु अविच्छेद्य है। वह तो समझता है कि इन दोनोंको अलग करनेका परिणाम ही भयानक हुआ है। मानव जगत्की आजकी दुर्दशाका वही कारण है और धरतीपर आये संकटका मूल भी इसीमें है।

इसीको क्या राजनीतिका वहिष्कार करना कहते हैं? 'कार' साहबने गांधीजीकी पद्धतिको यूरोपके आधुनिक युद्धविरोधी 'शान्तिवादियों'की नीतिसे मिला दिया। वे यह न देख सके कि गांधीजीकी अहिंसाके गर्भसे वह अहिंसक शक्ति उद्भूत हुई है जो प्रतिरोधके लिए की जानेवाली हिंसाका स्थान ग्रहण कर लेनेका दावा करती है। गांधीजी आज उस शक्तिका प्रयोग कर रहे हैं यह देखने और दिखानेके लिए कि अहिंसक विरोध हिंसक विरोधसे अधिक उपयुक्त, अधिक प्रभावकर और अधिक सफल है या नहीं? यूरोपके मानसिक धरातलपर तो हिंसाकी प्रभुता छायी हुई है। यही कारण है कि 'कार' साहबके प्रतिरोधका एकमात्र मार्ग और शक्तिका एकमात्र अधिष्ठान शास्त्रमें ही सुझाई पड़ा। यूरोप कदाचित् बर्बर युगकी प्रवृत्तियोंसे अभी मुक्त नहीं हुआ है। यद्यपि कल-कारखानों, धुँआ उगलती उत्तुंग चिमनियों और गगनचुम्बी अट्टालिकाओंका निर्माण करनेमें अवश्य सफल हुआ है। यहीं तक संस्कृतिकी सीमा समझनेवाले पाश्चात्य सम्भवतः उस दिव्य मानवीय दृष्टिको समझ भी नहीं पाते जो मानवांतरका दर्शन और स्पर्श करती है। फलतः गांधीजीकी पद्धति उनके समझमें जल्दीसे नहीं आ पाती।

राजनीतिको नैतिक रंगमें रँगनेकी चेष्टा करके गांधीजी कोई असाधारण और अकल्पित बात कर रहे हैं, यह भी मैं नहीं मानता। साधारण शिक्षित मह

भी इतना जानता है कि आधुनिक राजनीतिके लिए संसारका नैतिक समर्थन और सहानुभूति अत्यन्त वहुमूल्य वस्तु होती है। युद्ध हो या शांति, कोई नीति हो या कुनीति, कोई वड़ा राष्ट्र हो या छोटा, सभी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय नीतिका समर्थन करते हुए, प्रत्येक कार्यके लिए प्रायः सदा यह सिद्ध करनेकी कोशिश करते हैं कि वे जो कर रहे हैं, अथवा करने जा रहे हैं, अथवा कह रहे हैं वह न्याय, नीति और मानवसमाजके कल्याणकी भावनासे अभिप्रेरित होकर ही कर या कह रहे हैं। आक्रमण, रक्तपात और निर्दलन तकको नैतिक आवरणसे ढकनेकी जो चेष्टा की जाती है वह आखिर क्यों की जाती है? इसका एकमात्र कारण क्या यह नहीं है कि सभी राष्ट्र या राष्ट्रोंके नेता या राजनीतिज्ञ अपने कार्य और नीतिके प्रति व्यापक जन-समाजकी सहानुभूति और समर्थनको प्राप्त किया चाहते हैं? क्या यह प्रयत्न ही राजनीतिको नैतिक आधार देनेकी चेष्टाके सिवा कुछ और भी है? गांधीजी भी यही कहते हैं। हाँ, उसमें और दूसरोंमें वड़ा भारी भेद यह है कि दूसरे जहाँ अनैतिक मार्गका अवलम्बन करके, असत्य और प्रवंचन करके दूसरोंकी आँखमें धूल भोंककर, अपने स्वरूप-को छिपाकर नैतिक समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं वहाँ गांधीजी नैतिक पद्धतिसे, वास्तविक न्याय और नीतिको ग्रहण करके राजनीतिको वास्तवमें नैतिक आधारपर स्थापित करनेका प्रयास करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे जगत्का नैतिक समर्थन उचित रूपसे प्राप्त कर सकें।

सत्याग्रहीका रूप

सत्याग्रहकी पद्धतिमें उसी नैतिकताका समावेश है। उस पद्धतिमें जगत्की सहानुभूति और समर्थनको सहज ही प्राप्त

करनेकी कल्पना और आशा भी निहित है। इतना ही नहीं बल्कि सत्याग्रहकी कल्पनामें नैतिक सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करना अनिवार्यतः अपेक्षित है, क्योंकि वही उसका वास्तविक बल है। स्वयं कष्ट सहन करते हुए, बिना किसीपर आघात किये, पशुताका सामना करनेके लिए प्राणोंकी आहुति तक डाल देना एक ऐसी क्रिया है जो तटस्थ और उदासीन पक्षके हृदयमें भी सत्याग्रहीके प्रति अनिवार्यतः सहानुभूति उत्पन्न करानेका कारण होती है। तटस्थ या उदासीन ही नहीं प्रत्युत विरोधीके भी इस क्रियाके द्वारा प्रभावित करनेका विश्वास सत्याग्रहमें सन्निहित है। कष्टसहनके द्वारा विरोधीके उग्रसे उग्र आघातका आवाहन करके सत्याग्रही उसके नैतिक आधारको ही हिला देता है। आक्रमणकारी जगत्की दृष्टिमें अन्यायी बन जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी आक्रमणशक्तिका क्षय होने लगता है। दूसरी ओर सत्याग्रहीकी बल-वृद्धि होती है और आततायीको उसके सम्मुख एक-न-एक दिन अपनी पशुताका विसर्जन करनेके लिए बाध्य होना पड़ता है।

अभिशाप बन गया। माल खपानेके लिए औद्योगिक देशोंकी प्रतिस्पर्धाने उग्र रूप धारण करके विश्वव्यापी महायुद्धोंकी सृष्टि की। आज संसारने गत चालीस वर्षोंके अन्दर छोटे-मोटे अनेक और दो बड़े-बड़े विश्वव्यापी युद्धोंको भयावनी विपत्तिकी भाँति फूट पड़ते और संसारको भस्म करते देखा है। उसी पूँजीवादी विचारधाराके प्रतिवादके रूपमें मार्क्सवादका जन्म हुआ था। वे मनीषी थे, उनकी सूक्ष्म और पैनी बुद्धिने पूँजीवादी व्यवथाकी समीक्षा करते हुए मानवीय विकासके विशालपटकी दार्शनिक विवेचना कर डाली। मार्क्सका जन्म ऐसे समय हुआ था जब वैज्ञानिक साधनोंसे सम्पन्न मनुष्यने पूँजीवादको ऊँचे शिखरतक पहुँचाया था। इस तत्वदर्शीकी मुक्तात्माने तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाकी विषमता देखकर भविष्यकी कल्पना की। उन्होंने यह भी देखा कि उक्त व्यवस्था उत्पन्न कैसे हुई और किस प्रकार मानव-समाजके अति आरंभिक कालसे मानव-जाति यात्रा करते हुए उस बिन्दुतक पहुँची जहाँ वह स्थित थी। उन्होंने यह भी देखा कि वह यात्रा जिस दिशाकी ओर है वह कौन सी है और भविष्यका स्वरूप क्या होनेवाला है। मार्क्स इससे भी आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि अनन्त प्रकृति जिन नियमोंके अनुसार गतिशील रही है वे ही नियम मानव-समाजकी गति और उसके विकासकी व्याख्या करते हैं। यह मार्क्सकी ही प्रतिभा थी कि उन्होंने उन्हीं नियमोंके प्रकाशमें मानव-समाजके सारे इतिहास और उसकी सारी गतिविधिकी व्याख्या कर डाली। इसी मार्क्सवादी दर्शन, दृष्टि, पद्धति और विचारधाराके आधारपर लेनिनने अक्टूबर क्रान्तिके द्वारा वह महान प्रयोग आरम्भ किया जिसका परिणाम आजका सोविएट रूस है। मार्क्सवाद पूँजीतन्त्र और पूँजीवादके प्रतिवादके रूपमें उद्भूत हुआ था और

लेनिनका प्रयोग उसीके आधारपर पूँजीवादी संस्कृति, विराट
पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी विचारधाराके विरुद्ध तथा
सक्रिय विद्रोहके रूपमें मूर्त हुआ।

आज हम जानते हैं कि मार्क्सवादने और लेनिन द्वारा सम्पा-
दित मार्क्सवादी विद्रोहने समस्त मानव-समाजपर कैसा प्रभाव
डाला है। हम कह सकते हैं कि संसारमें कोई ऐसी विचारधारा
नहीं है जिसका इतना व्यापक प्रभाव मानव-जीवनपर पड़ा हो
जितना मार्क्सवादका। मार्क्स जीवनके किसी अंगपर भी प्रभाव
डालनेसे बाज नहीं आये हैं। मनुष्यके विचारपर, बुद्धि और
भावनापर, विश्वास और रहन-सहनपर, समाज और व्यवस्थापर,
साहित्य और संस्कृतिपर, कला और उद्योगपर उन्होंने समान
रूपसे प्रभाव डाला है और जब उस विचारधाराको आधार बना-
कर एक सक्रिय महाविद्रोह हुआ और रूसमें एक नये राष्ट्र और
नयी संस्कृतिकी रचना की गयी तो फिर स्वभावतः उसका प्रभाव
अत्यधिक हो जाना अनिवार्य था। फिर मार्क्सवादका प्रभाव
अधिकसे अधिक फैलना यों भी अनिवार्य था क्योंकि मार्क्सवादमें
उन अमानवीय विचारों और व्यवस्थाओंको ललकारनेकी शक्ति
थी जो पूँजीवादके विशेष अंग तथा आधारके रूपमें स्थित हैं।
मार्क्सवादने आकृष्ट किया मानव-समाजकी चेतनाको क्योंकि
उसमें मानवताकी पुकार थी, मानवीय भावोंकी प्रतिध्वनि थी और
प्रेरणा थी मानव-पशुताके विरुद्ध विद्रोह की। फलतः संसारने रूस-
में उस महाप्रयोगको चरितार्थ होते देखा जो प्रगतिके अनन्त पथपर
मनुष्यताके बढ़ावका द्योतक था। रूसने मार्क्सवादका प्रतिनिधित्व
करके मानव-समाजकी समस्त शोषित और दलित जनताका
नेतृत्व ग्रहण किया। वह विश्वके पीड़ित-समाजका उद्धारक और
पोषक बनकर अवतरित हुआ। जगत्से वर्गोंकी प्रभुता मिट

खड़े हुए थे तो गांधी भी मानव-पशुता और मनुष्यकी हीन, स्वार्थी प्रवृत्तियोंके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। एकने यदि वर्ग-भेदको मिटानेकी कल्पना की थी तो दूसरेने भी वही कल्पना स्वीकार की थी। यदि एकका यह आदर्श था कि जगत्से दोहन और दासता मिट जाय, संसारमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो तथा मानवसमाज समान रूपसे व्यष्टि और समष्टिमें समन्वय स्थापित करके अग्रसर हो सके तो दूसरेका आदर्श भी बिलकुल यही था।

गांधीजीकी जन्मभूमि

गांधीका अनोखापन दूसरी दिशामें था। उसका अनोखा-पन था उसके पथमें, उसकी प्रयोग-पद्धतिमें और उसके उन साधनों और उपायोंमें जिसके द्वारा वह आदर्शकी पूर्ति करनेकी कल्पना लेकर बढ़ा था। आज उस अनोखेपन पर हम दृष्टिपात करना चाहते हैं। बापू किसी ऐसे देशमें उत्पन्न नहीं हुआ जो सांस्कृतिक दृष्टिसे शून्य रहा हो। वह उत्पन्न हुआ उस भूमिमें जिसे सहस्राब्दियों पहले महती संस्कृतिको जन्म देनेका श्रेय प्राप्त हो चुका है। भारत कोई साधारण देश नहीं है। उसने हजारों वर्षोंका जमाना देखा है, हजारों वर्षोंतक उसने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनका संचालन किया है। उक्त संचालनके लिए उसने अनेक व्यवस्थाएँ बनायीं, समय-समय पर आवश्यकताके अनुसार उन व्यवस्थाओंमें परिवर्तन और परिवर्धन किये। जीवनका संचालन करनेमें उसने न जाने कितनी अनुभूतियाँ कीं और अपनी अनु-भूतियोंके आधारपर नियमों तथा परम्पराओंका निर्माण किया। भारतको अवसर मिला कि अपनी प्रतिभाके द्वारा अपनी संस्कृति-की चतुर्मुखी उन्नति करे। उसका बहुमुख विकास भी हुआ।

सामाजिक और आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक, साहित्यिक और दार्शनिक आदि सभी क्षेत्रोंमें उसने सफलतापूर्वक विकास किया। हजारों वर्षका उसका इतिहास एक महान राष्ट्रकी अबाध गतिका इतिहास है जिसमें उस देशने अच्छे और बुरे, ऊँचे और नीचे अनेक युग अनेक बार देखे। जीवनके तथ्योंकी अनुभूतियोंने उसे ऐकान्तिक अक्षुण्ण तथ्यों तथा सत्योंका साक्षात्कार करनेका अवसर प्रदान किया। फलतः सारा भारतीय जीवन विशेष साँचेमें ढल गया। भारतकी संस्कृतिके पीछे राष्ट्रकी वे ही अनुभूतियाँ और सत्यके दर्शनसे प्राप्त वह ज्ञान था जो समय-समयपर अपने लम्बे जीवनमें उसने प्राप्त किया था। बापू इन समस्त संस्कारोंसे सुसंस्कृत एक ऐसे देशमें उत्पन्न हुआ जो इतिहास-प्रसिद्ध उज्ज्वल संस्कृतिका उत्तराधिकारी था। बापूके पीछे श्रृंखलाबद्ध वह परंपरा मौजूद थी जिसने हजारों वर्षोंतक समयानुकूल भारतको प्रभावित किया था।

गांधी-दर्शन

फलतः वह सांस्कृतिक दृष्टिसे किसी शून्य देशमें नहीं प्रत्युत ऐसी भूमिमें उत्पन्न हुआ था जिसके जीवन और विचारपर, दृष्टि और विश्वासपर, हृदय और भावनापर एक गहरा रंग छाया हुआ था। ऐसी स्थितिमें जिस नयी भावना और नयी कल्पनाको लेकर गांधीजी बढ़े वह ऐसी थी जिसपर भारतीयताकी गहरी छाप थी। भारतीय संस्कृतिमें अपनी विशेषताएँ रही हैं। उसने केवल दृश्य और विशुद्ध भौतिक सत्ताको एकमात्र सत्य कभी नहीं माना। भारतकी दृष्टि दृश्य-जगतके उस पार कहीं दूरतक पहुँची थी जहाँ उसने यह अनुभूति की थी कि सृष्टि प्रपंचके मूलमें वह अनन्त चेतन तत्त्व है जिसका एक पहलू यह

जगत् भी है। उसके अद्वैतमेंसे द्वैतकी कल्पना हुई है और वह अद्वैत विशुद्ध चिन्मय है। यदि मार्क्सका दर्शन भौतिक तत्त्वोंकी उपासनामें रत वैज्ञानिक दृष्टिके गर्भसे हुआ था तो गांधीका दर्शन उस अलौकिक अनुभूतिसे उत्पन्न हुआ था जो विशुद्ध चेतन-आत्मा, बुद्धि और इन्द्रियोंकी सीमाका अतिक्रमण करके किया करती हैं। मार्क्सका दर्शन यदि भौतिक भावापन्न है तो गांधीकी विचारधारा भारतकी महती आध्यात्मिक संस्कृतिसे सम्भूत हुई है। यही कारण है कि हम बापूमें भारतीयताको अपनी समस्त उज्ज्वलतामें व्यक्त और उदित हुआ पाते हैं। मार्क्सवादने यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके द्वारा इतिहासकी व्याख्या की तो गांधीकी दृष्टिमें वह नैतिक जीवनवाद प्रतिभासित हुआ जिसका मूल अध्यात्म है। दृष्टिकोणोंमें इस महा अन्तरने यदि एक ही आदर्शकी उपलब्धिके लिए लेनिनके नेतृत्वमें रूसको एक पथपर अग्रसर होनेके लिए प्रेरित किया तो गांधीके नेतृत्वमें भारतने वह दूसरा पथ पकड़ा जिसकी दिशा दूसरी थी। मार्क्सवादने वर्ग-भेदको मिटानेके लिए वर्ग-चेतनाको प्रज्वलित करनेकी चेष्टा की। उसने आर्थिक लोलुपताका संहार करनेके लिए अर्थको ही प्रमुखता प्रदान कर दी। उसने वर्ग-सत्ताको मिटानेके लिए साधारणतः वर्ग-सत्ताकी स्थापनाको ही आवश्यक समझा। शोषण और हिंसाके आधारपर निर्मित पूँजीवादी व्यवस्थाका लोप करनेके लिए हिंसाका आश्रय लेना एकमात्र उपाय माना। उसकी दृष्टिमें वर्गहीन समाजकी स्थापनाके बाद शासन-सत्ताका सम्पूर्ण विघटन अनिवार्य था पर इस आदर्शकी पूर्तिके लिए उसे उपाय यह दिखाई पड़ा कि एक वर्गका संहार करके दूसरा वर्ग उस वर्ग-सत्तामूलक शासनकी स्थापना करे जो समस्त शक्तिको केन्द्रित करके व्यक्त हो।

संक्षेपमें मानवीय आदर्शकी प्राप्तिके लिए और मानवी पशुताको मिटानेके लिए मार्क्सवादने जिन उपायोंको स्वीकार किया वे स्वयम् वे ही थे जिनका संहार उन्हें अपेक्षित था। दूसरे शब्दोंमें पशुताके नाशके लिए तथा पाशविक अनैतिकताके उच्छेदनके लिए अमानवीय पथको ग्रहण करना प्रमुख उपाय माना गया। गांधीने दूसरे पथका अवलम्बन किया। उनका पथ था अमानवताके लोपके लिए मानवताका, अनैतिकताके उन्मूलनके लिए नैतिकताका और असत्यके उच्छेदके लिए सत्यका सहारा लेना। उनकी दृष्टिमें पापका प्रतिकार पापसे, पशुताका पशुतासे और असत्यका सत्यसे न केवल असंगत है किन्तु असंभव भी है। गांधीकी दृष्टिमें मानवीय आदर्शकी स्थापनाके लिए मानवीय साधन ही उपयुक्त हो सकते हैं। इसके विपरीत जाना आदर्शसे विमुख होना है। गांधीका संदेश यही था। साध्य और साधनमें एकात्मकताकी ऐसी प्रतिष्ठा उनकी विशेषता थी। उनके लिए भारतीय स्वतन्त्रता का युद्ध मनुष्यकी पशुताके विरुद्ध मनुष्यताका युद्ध था। उनके लिए साम्राज्यवादके विरुद्ध भारतका विद्रोह मनुष्यकी हीन स्वार्थपरताके विरुद्ध नैतिकताका विप्लव था। उनकी दृष्टिमें रंग और जातिकी श्रेष्ठताके आधारपर स्थापित प्रभुता वह अन्यायमूलक व्यवस्था थी जिसका प्रतिरोध न करना मनुष्यताका गला घोंटना था। बापूने इसी दृष्टिसे राजनीतिक संघर्षको देखा। आर्थिक क्षेत्रमें भी उत्पादक जनताका दोहन और वर्ग-प्रभुता उन्हें उस नैतिक विधानके विरुद्ध ज्ञात हुई जिसे वे जगत्‌को संचालित करनेवाली नियामिका शक्तिके रूपमें देखते हैं। पर इनका प्रतिकार करनेका उपाय भी नैतिक और मानवीय होना चाहिये। गांधीकी प्रतिभाने वही उपाय ढूँढ निकाला।

उन्होंने संघर्ष और युद्धको भी उच्च नैतिक धरातलपर प्रतिष्ठित किया। अबतक जगतने यही देखा था कि आततायीके सम्मुख दो ही मार्ग हैं। या तो उसके बलके संमुख आत्म-समर्पण या फिर हिंसाके द्वारा उसकी हिंसाका प्रतिरोध। बापूने वह तीसरा अलौकिक पथ दिखाया जिसे हम मानवीय पथ कह सकते हैं। बलके सन्मुख आत्मसमर्पण मनुष्यताका अपमान है अतः वह अनैतिक और त्याज्य है। हिंसाके द्वारा हिंसाका प्रति-रोध हिंसाकी ही प्रतिष्ठा करेगा अतः वह भी त्याज्य है। हिंसाकी पराजय तभी होगी जब अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो। अन्यायका पराभव न्यायकी स्थापनासे ही होगा और अन्याय तथा हिंसाका मुकाबिला अन्याय तथा हिंसासे करके हम उस लक्ष्यका संपादन नहीं कर सकते। वह लक्ष्य पूरा करनेका उपाय यही है कि हिंसा अहिंसासे, अन्याय न्यायसे और पशुता मनुष्यतासे पराभूत हो। बापूने वही पथ ग्रहण किया। आज विश्वको यह उनकी महती देन है। भारतमें जो महाप्रयोग सफल हुआ है वह केवल भारतके लिए नहीं है प्रत्युत उस मनुष्यताको विराट सांस्कृतिक देन है जो अपनी ही पशुतासे उत्पीड़ित है। मानव-जाति विभूति-सम्पन्ना है, वैभवशालिनी है, पर क्या कारण है कि सब कुछ होते हुए भी उत्पीड़ित है? क्या कारण है कि यह मानवजाति अपनी ही हिंसाकी विभीपिकामें अपने समस्त ऐश्वर्यके साथ जलकर भस्म हुआ चाहती है? कहाँ रही उसकी प्रगति और कहाँ रहा उसका विकास? वह स्पष्टतः क्यों अधोमुख है और क्यों दुर्गतिको प्राप्त हो रही है? ये प्रश्न हैं जो विश्वके मनीषियोंकी बुद्धिको आन्दोलित कर रहे हैं। आजकी हमारी संस्कृति स्वयं हमारे लिए महान प्रश्नवाचक चिन्हके रूपमें उपस्थित है। मानवजातिको या तो इन प्रश्नोंका

उत्तर देना है या नष्ट हो जाना है। आजके दुश्चक्रसे उसे या तो बाहर जाना है या अपने हाथों आत्मघात करना है। गांधी स्वयम् इन प्रश्नोंका उत्तर देता है। उसकी देव-पुकार विश्वके अंतरिक्षको प्रतिध्वनित कर रही है। मानवताके मंचपर उसका अभिनव अभिनय अब भी जारी है। वह मनुष्यके सात्विक और उज्ज्वल भावोंका मूर्त प्रतीक है। वह आज प्रगति और विकासके सच्चे पथकी ओर संकेत कर रहा है। जगत् उसकी ओर देखे और भारत अपनी उज्ज्वल तथा अलौकिक प्रतिभाकी इस सजीव प्रतिमाका उपयोग करके संसारकी सेवा करे। बापूके रूपमें भारतने जो सांस्कृतिक संदेश दिया है वह कदाचित् संसारका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकेगा।

भौतिक सभ्यताका प्रतिवाद—बापू

गांधीजीका अवतरण एक विशेष परिस्थिति में हुआ। मनुष्य-समाजकी यह विशेषता रही कि जब उसकी परिस्थितिने किसी विशेष प्रकारके प्रश्नको जन्म दिया और जब उस प्रश्नके सुलझाव की अपेक्षा तत्कालीन युग करने लगा तो उसे सुलझानेके लिए विशेष प्रकारके आदर्श और पथ प्रसूत हुए। बहुधा समस्याओं के सुलझावका कार्य किसी-न-किसी ऐसे महापुरुषके द्वारा हुआ जो सहसा सामाजिक जीवनके मंचपर युग-पुरुषके रूपमें अवतरित हुआ। कालान्तरसे लेकर आजतक अनेक बार मनुष्यताके सम्मुख ऐसे प्रश्न विकट रूपमें उपस्थित हो चुके हैं। सभी राष्ट्रोंके जीवनमें ऐसी ही जटिल समस्याएँ एकाधिक अवसरोंपर उपस्थित हुई हैं, जब ऐसा ज्ञात हुआ कि यदि उन समस्याओंको सुलझाया नहीं जाता तो उनके जीवनका अस्तित्व ही मिट जायगा। भारत पुरातन देश है। इसके जीवनकी अवधि बड़ी लम्बी रही है। स्वभावतः उसके सामने समस्याएँ भी अनेक बार उत्पन्न हुई और अनेक बार अनेक महापुरुषों द्वारा समय-समयपर सुलझायी गयीं। मनुष्यको प्रकृतिने चेतन बनाया है। वह केवल भौतिक द्रव्योंका पिण्डमात्र नहीं है। उसमें यदि अज्ञान है तो ज्ञान भी है, जड़ता है तो चेतना भी है, पशुता है तो देवत्व भी है, अन्धकार है तो प्रकाश भी है। वह

केवल शरीर नहीं है। वह केवल प्रवृत्तियोंका पुतला नहीं है। यदि उसे शरीर है, यदि उसका भौतिक अंश है तो उसका भावात्मक अंश भी है, उसमें आत्मा भी है। प्रकृतिने इसी प्रकार दो प्रकारके तत्त्वोंसे मानव-जीवनका निर्माण किया है। अनुभूतियाँ मनुष्यकी विशेषता हैं जिनके आधारपर वह सत्य-सत्ताका साक्षात्कार भी किया करता है। समस्याएँ यदि उत्पन्न होती हैं तो मनुष्यकी अपनी प्रवृत्तियों और अपनी गतिके कारण ही उत्पन्न होती हैं। यदि मनुष्यता अविवेक और अज्ञानकी ओर, अपनी हीन प्रवृत्तियोंकी ओर बढ़ी तो साथ ही साथ उसकी वे उच्च और उत्तम प्रवृत्तियाँ भी जाग्रत हो चली हैं जो उसके पतनके मार्गका अवरोधन करती हैं। प्रकृतिकी कृपा, उसकी यही लीला मानव-समाजको नष्ट होनेसे बचाती रही है। जब समाज गहन अन्धकारके स्तरतक पहुँचता है तब सहसा उसकी शुभ प्रवृत्तियाँ जागृत होकर उसे अपने स्वरूपका ज्ञान करा देती हैं और बहुधा उसे उस पथसे विरत करके प्रकाशकी ओर उन्मुख कर देती हैं। शुभ प्रवृत्तियोंका यह उन्नयन और जागरण मानव समाजके इतिहास की विशेषता है। उन प्रवृत्तियोंका संकेत बनकर, इनका प्रतीक होकर जो पुरुष अवतरित होते हैं वे मनुष्यता की विभूति हो जाते हैं। हमारा इतिहास ऐसे लोगोंसे भरा पड़ा है। ऐसे ही लोग उन उज्ज्वल पृष्ठोंकी रचना कर जाते हैं जो हमें अनन्त कालतक स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं और पथके अनुशीलन तथा चयनमें प्रकाशका काम देते हैं। गांधीजी ऐसे ही युगमें अवतरित हुए जब यह देश पतनके चरमबिन्दुपर पहुँच चुका था। उनकी महत्ताका अध्यन करनेके लिए यह आवश्यक है कि उस युग और उस युगकी समस्याका अध्ययन किया जाय जिसने महात्माको जन्म प्रदान किया।

अंग्रेजी शासन

भारतमें अंग्रेजी शासनकी स्थापना आकस्मिक घटना नहीं थी। वह द्योतिका थी पश्चिममें यदि एक नयी शक्तिके उदयकी तो साथ ही परिचायिका थी भारतके महापतनकी। शताब्दियोंके काल-प्रवाहसे मूर्च्छित और निश्चेष्ट पड़ी हुई भारतीय संस्कृति अपनी आत्माको भूल चुकी थी जब अंग्रेजोंका पदार्पण इस देशमें हुआ। अंग्रेज नयी संस्कृतिके योगसे प्रेरित और उल्लासित होकर अपने छोटेसे द्वीपकी सीमासे बाहर निकले थे। पश्चिममें एक नयी सभ्यताने जन्म ग्रहण किया था जिसमें नया बल था, नयी शक्ति थी और नयी सक्रियता थी। उस समय जो राष्ट्र उद्दीप्त हुए उनमें से ब्रिटेन मुख्य था। यों तो विज्ञान और यन्त्र एक नये समाज और नये जीवनको गढ़-गढ़कर बना रहा था। योरोपके पुराने आदर्श, पुरानी व्यवस्था और पुराने जीवनका स्वरूप मिट रहा था। इस नये आलोकसे अभिप्रेरित पश्चिमकी शक्तियाँ विश्वका पर्यटन और उसकी दिग्विजयके लिए निकल चुकी थीं। पूर्वी भू-खंडमें, जहाँ मानव इतिहासके अति आरम्भिक कालमें सांस्कृतिक सूर्य उदय था तब संध्याकालमें पहुँच चुका था। संस्कृतिका वह प्रकाश कदाचित विश्वाकाशका पर्यटन करता हुआ पश्चिममें पहुँच चुका था। सारा पूर्वी भूखण्ड शिथिल प्रयासके आभाससे पीड़ित, निश्चेष्ट-सा हो रहा था। भारतमें शक्ति नहीं थी कि वह वेगपूर्वक नये ओजसे सम्पन्न आयी हुई नयी शक्तिका प्रतिरोध करता। ऐसे समय अंग्रेज आ धमके और हम उनके सम्मुख डिग गये। नवोत्पन्ना संस्कृतिकी टक्करके सामने हम न टिक सके। परिणामतः धराशायी हुए और आनेवाली शक्ति

की विजय-वैजयन्ती हमारे मस्तकपर फहराने लगी। पतन जब होता है तब सर्वाङ्गीण और समीचीन होता है। गिरते समय आप यह नहीं कह सकते कि किस सीमातक गिरेंगे। जहाँतक तल न मिलेगा आप गिरते चले जायँगे। भारत इसी प्रकार गिरा था। मुट्ठी भर अंग्रेजोंने इस विशाल भूखंडको दक्षिणी समुद्रसे लेकर हिमगिरिकी उपत्यका तक विजित कर लिया। इस देशकी वे समस्त भावनाएँ जो मनुष्यको उज्ज्वलताकी ओर अग्रसर करती रहीं, उसके जागरण और सजीवताका कारण बनती है, प्रसुप्त थीं और देशके पराभवको अधिकाधिक महान् करती जा रही थीं। भारतका सांस्कृतिक अधःपतन, उसके राजनीतिक पतनका कारण हुआ और वह राजनीतिक पतन उसके सामाजिक और आर्थिक विनाशका कारण बना। ब्रिटिश शासनमें इस देशका जैसा चतुर्मुख क्षय हुआ कदापि पूर्वके किसी युगमें नहीं हुआ था। यदि आप ब्रिटिश शासन का इतिहास देखें तो आप यह पावेंगे कि हमारे जीवनमें वह युग आ गया था जब हमने आक्रमणकारी और विजेताके उन्हीं चरणोंको पूजना आरंभ किया जिन्होंने हमारे वक्षस्थलपर दम्भ और कठोरताके साथ पदाघात किया। किसी देशका सांस्कृतिक पतन महाविनाशकारी हुआ करता है। भारतका यह पतन उसी कारण अत्यन्त भयानक था। हमने न केवल अपने हाथों अपनी नैया डुबा दी प्रत्युत अपने विनाश और अपने पतनमें रस लेना आरम्भ कर दिया। भारतकी तत्कालीन मनोवृत्तिपर दृष्टिपात कीजिये। अंग्रेजी राजके आगमनसे इस देशमें वह धारा बही जिसने भारतीयोंको भारत और भारतीयतासे विमुख कर दिया। हम ऐसे मोहाच्छन्न थे कि हमें हमारा अतीत विस्मृत हो गया। भविष्यका स्मरण न रहा और वर्तमान-

के प्रति हम अन्धे हो गये। विदेशी संस्कृति, विदेशी भाव, विदेशी आदर्श, विदेशी जीवन, विदेशीकी नकल, विदेशीकी पराधीनता और विदेशीके आदर्शोंके प्रति प्रेम हो गया। हमने समझा कि भारतका कल्याण अंग्रेजोंकी गुलामीमें होगा और हमने समझा कि भारतका उत्थान भारतको आपद-मस्तक अंग्रेजियतमें रँग देनेमें सन्निहित है। जब मनुष्य अपनेको विस्मृत कर देता है, अपनी आन और अपने अतीतको भुला देता है तो सिवा इसके करेगा ही क्या? देशका यह प्रवाह हमें और भी विनाशकी ओर ले चला। विदेशी शासनके लिये अब मार्ग निष्कण्टक था। कोई विजेता कभी अपनी विजय और सत्ताको स्थापित नहीं कर सकता यदि वह पराजितकी आत्मापर अपना अधिकार नहीं जमा लेता। अंग्रेज इस सत्यसे परिचित थे और उन्होंने भारतको इसी रूपसे जीतनेकी चेष्टा की। देशकी गति इसमें उनकी सहायक थी क्योंकि हम स्वयं पतनाभिभूत होकर उसी दिशामें बह चले थे। अंग्रेजोंका पथ निष्कंटक था और वे तीव्र गतिसे बढ़ते चले गये। यदि यह प्रवाह किसी प्रकार बना रहा होता तो कदाचित् आज भारत भी लुप्त हो गया होता। पर इस देशकी आत्मा मूर्छित होते हुए भी मरी हुई नहीं थी; उसमें कुछ स्पंदन बाकी था जिसके कारण प्रकृतिका विधान सक्रिय होनेमें समर्थ हुआ। किसी रोगीके शरीरमें जबतक रोगके विरुद्ध लड़नेकी और उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें उपस्थित होनेकी शक्ति रहती है तबतक वैद्यका औषधोपचार भी काम करता है। चिकित्साशास्त्र-का यह साधारण सिद्धान्त है कि औषधियाँ उसी आन्तरिक बलको सहायता देती हैं जो प्रकृति द्वारा मनुष्यको प्रदत्त हैं। रोगके प्रतिरोधके लिए शरीरके समस्त तत्व उज्जीवित हो

उठते हैं और बाह्य विषका सामना करनेके लिये खड़े हो जाते हैं। ऐसे रोगीपर औषध काम करती है। जिस समय यह प्रतिक्रिया भी नहीं रह जाती उस समय रोगीकी मृत्यु भी निश्चय हो जाती है। भारत पतित हुआ था पर उसके सामाजिक देहमें वे तत्व अबतक वर्तमान थे जो पतनके महारोगके प्रतिरोधके लिए खड़े हो रहे थे। १८५७ का वह विद्रोह जिसके द्वारा ब्रिटिश शक्तिका उन्मूलन करनेकी चेष्टा की गयी थी पतनके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें खड़ी हुई भारतीय समाज की उस आन्तरिक शक्तिका ही द्योतक था जो विनाशकी प्रक्रियाका प्रतिरोध करनेके लिए ही सक्रिय हो उठा था। १८५७ का विद्रोह भारतीयताका जागरण था जो एक बार अतीतकी चेतना, भविष्यकी कल्पना और वर्तमान-के प्रति घृणा लेकर उत्पन्न हुआ था। वह हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक देहके उज्ज्वल जीवन-तत्वोंका उद्बोधन था। अवश्य ही वह विद्रोह सफल न हुआ पर निश्चित रूपसे उसने भारतमें वह धारा बहा दी जो देशके पतन-प्रवाहके पथको कुंठित करनेके लिये अग्रसर हुई। निश्चय था कि वह शक्ति जो कि विजेता बन-कर आयी हुई थी उस धाराको सुखा देनेकी चेष्टा करती। १८५७ से १९४७ तकका ब्रिटिश इतिहास उसके उसी प्रयासका इति-हास है। यह ९० वर्ष हमारे जीवन-संघर्षके युग थे जब भारतीय राष्ट्रदेहके वे तत्त्व परस्पर कठिन टक्कर ले रहे थे। ब्रिटिश शक्तिने भारतका दमन करनेमें उसके जागरण, उसके उत्थान और उसकी गतिको रोकनेमें कुछ उठा नहीं रखा। हमारा सौभाग्य है कि इन सारे प्रयत्नोंके बाद भी हमारी उन्नायक शक्तियाँ हमें सजीव और गतिशील रख सकीं। राष्ट्रीय कांग्रेसका उदय इसी सजीवताका चिन्ह था। बंग-भंगका प्रतिरोध और तदुपरान्त स्वदेशी आन्दोलन हमारी उसी सक्रियता और प्रेरणाका

परिणाम है। वार-वार हम दवाये गये। हमारी शक्ति कुण्ठित करनेकी चेष्टा की गयी। बहादुरशाह और लक्ष्मीवाईसे लेकर तिलक और अरविन्द तक हम कुचले गये पर यदि हम अपने पतनके प्रतीक ब्रिटिश राज्यको समाप्त करनेमें समर्थ न हुए तो वह ब्रिटिश राज भी हमारा हनन करनेमें सफल न हुआ।

विज्ञान-युग

अव एक युग समाप्त हो गया। पर इधर भारतमें उत्थानकी यह लहरी प्रवाहित थी और उधर विश्वके रंग-मंचपर एक दूसरा अध्याय गतिशील था। पश्चिममें जिस संस्कृतिने जन्म ग्रहण किया था उसने विश्वको एक नया स्वरूप प्रदान कर दिया था। उसने नयी समस्याओंका सर्जन भी कर डाला था। विज्ञानकी उन्नतिने प्रकृतिकी अलौकिक शक्तियों पर मनुष्यको अधिकार स्थापित करनेमें सफल वनाया था जिसके फलस्वरूप विश्वकी समस्त आर्थिक व्यवस्था परिवर्तित हो गयी थी। उत्पादनके साधनों और प्रचारमें जो परिवर्तन हुए थे उनसे पश्चिममें नये समाजका गठन हो गया था। राष्ट्रोंकी शक्ति भी वैज्ञानिक देनसे अपरिमित मात्रामें वढ़ गयी थी। यन्त्रोंद्वारा पदार्थोंके अत्यधिक उत्पादनमें जगत्की मण्डियोंमें माल खपानेके लिये योरपके राष्ट्रोंमें प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गयी थी। यह प्रतिस्पर्धा प्रतिक्षण उग्र होती चली जा रही थी जिसके फलस्वरूप सभी उत्पादक राष्ट्र पारस्परिक संघर्षकी ओर वढ़ते चले जा रहे थे। वैज्ञानिक शक्ति विश्वकी भौगोलिक सीमा और कालकी दूरी समाप्त करनेमें भी सफल हुई थी। प्रायः समस्त धरित्री एक सूत्रमें आवद्ध हो गयी थी। परिणाम यह था कि विश्वके किसी कोनेमें घटी

हुई किसी घटनाका प्रभाव सारे संसार पर पड़ने लगा था। इस नये युगने संसारके सामने नयी समस्या उत्पन्न कर दी। समस्या थी पारस्परिक विकासकी। जगतके मनीषी यह देख रहे थे कि जिस प्रकार दुनिया बह रही है और जिस प्रकार राष्ट्रोंका लोभ प्रज्वलित होता चलता है और जिस प्रकार प्रतिस्पर्धा तीव्र होती जा रही है और परस्पर भय, आशंका, बढ़ती चली जा रही है और सामरिक शक्तिमें वृद्धि की जा रही है उसका परिणाम भयावना हुए विना न रहेगा। विज्ञानने मनुष्यको यदि उत्पादनके साधन प्रदान कर दिये थे तो विनाश और संहारकी आपरिमित शक्ति भी दे दी थी। प्रश्न यह था कि मनुष्य इस असीम वैज्ञानिक विभूतिसे अपना समन्वय स्थापित करनेमें सफल होगा या अपरिसीम वैज्ञानिक अभिशापकी आगमें स्वयं भस्म हो जायगा। यह प्रवाह इतना उग्र, इतना भयावना और इतना अविरोध्य था कि कुछ वर्ष बीतते-बीतते उस विश्वव्यापी प्रथम महायुद्धका सूत्रपात हुआ जो तत्कालीन जगतके लिए नवीन घटना थी। युद्ध पहले भी हुए थे पर उस प्रकारके विश्वव्यापी युद्धका वह पहला ही अवसर था। सारी धरिणी उसके विस्फोटकी लपटोंमें गलती दिखाई पड़ी। मनुष्यताके सामने वैसा महान् संकट इसके पूर्व कभी नहीं आया। भारत विश्वका ही एक अंग था और जब विज्ञानने सारे संसारको एक कर डाला था तब भारतका भी विश्वकी उन घटनाओंसे प्रभावित होना अनिवार्य था। युद्ध हुआ और जगतने विज्ञानकी क्रूरता तथा मनुष्यकी पशुता देखी। मनुष्यने देखा कि जिस मात्रामें विज्ञान उन्नत हुआ है उसी मात्रामें मनुष्य विकसित नहीं हुआ। देखा समस्त संसारने कि आजकी संस्कृतिमें कोई महान् विकार है जो समस्त ऐतिहासिक

धाराको विषमय विनाशकारी बनाये दे रहा है। उन अनु-भूतियोंके साथ-साथ विश्वका महासंहार हुआ और मनुष्यने मनुष्यके विकराल स्वरूपका साक्षात्कार किया। भारत ब्रिटेनका अधीन प्रदेश था जिसके फलस्वरूप इस युद्धकी विभीषिकासे स्वयं भी त्रस्त हुआ। आज इस देशका वह समाज जो पश्चिम-की संस्कृति और उसके प्रकाशसे आकृष्ट हुआ था ठिठका, उसने भी देखा कि जिस संस्कृतिको हम आज मनुष्यताकी शोभा समझते हैं और जिसकी मोहकतासे आकृष्ट थे उसका स्वरूप भी विकराल है। आजके वैभवकी कोई स्थिरता नहीं है क्योंकि मनुष्य मनुष्यताकी मर्यादाका उल्लंघन करके अपने हाथों उसे देखते-देखते नष्ट कर सकता है। उस अनुभूतिके साथ-साथ भारतने यह भी देखा कि जो आज शासक हैं और जिन्हें हम सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रतीक समझते हैं, मोह तथा दम्भकी प्रतिमूर्ति हैं। बड़े-बड़े आदर्शों और सिद्धान्तों की दुहाई देकर स्वार्थसाधन करनेवाले पाखण्डियोंपर विश्वास करना तो दूर रहा, उनकी मनुष्यतामें भी सन्देह किया जाना चाहिये। युद्धके कारण जो सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई थीं, जो नये-नये प्रश्न उठ खड़े हुए थे, वे तो समस्त जगतमें विक्षोभ उत्पन्न कर ही रहे थे; पर उसके साथ ही पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य शक्तियोंकी पशुताके इस उलंग-रूपसे जो युद्धके कारण व्यक्त हो गया था, मनुष्य जाति उनमें अपना विश्वास खो बैठी थी। विश्वकी दलित और शोषित जातियाँ, जिन्हें यह समझाया जाता था कि उनके शोषक और शासक उनके ही कल्याणके लिए, उन्हें सभ्य और उन्नत बनानेके लिए, उनकी स्वतन्त्रताके लिए एकमात्र परोपकार बुद्धिसे उनपर शासन कर रहे हैं, वस्तु-स्थितिको देखकर सहसा जाग उठीं।

उन्हें आभास मिल गया कि वास्तविकता क्या है और सारे सिद्धान्तों और आदर्शोंके पीछे कौन-सा कुचक्र चल रहा है। प्रथम महायुद्धके बाद जगतके प्रत्येक अंगमें आप यह भावना बहती पावेंगे। जो पराजित हुए वे पीस दिये गये, जो दलित थे उनके कठोर बन्धन कठोरतम कर दिये गये और जो विजयी थे वे स्वार्थमें अन्धे होकर विजयोन्मादमें मानवजातिके सामूहिक कल्याणकी रंचमात्र भी चिन्ता न करते हुए विमर्दित और विक्षत मेदिनीके अङ्गको चोंथ-नोचकर खानेके लिए भेड़ियेकी तरह दौड़ पड़े। आश्चर्य और दुःखके साथ संसारने यह नारकीय लीला देखी। इसकी प्रतिक्रिया भी तत्काल सम्भूत हुई और इसका प्रतिरोध करनेके लिए विश्वके प्रत्येक अञ्चलमें नयी शक्तियाँ खड़ी हुईं। इस प्रवाहसे भारत आक्षितिज आप्लावित हुआ। नयी दृष्टि, नयी कल्पना और नयी अनुभूतिने समस्त राष्ट्रीय जीवनको आलोड़ित किया। प्रथम युद्धके उपरान्तका भारत देखिये और आप यह पावेंगे कि राष्ट्रीय जीवन-समुद्रके गर्भमें बड़वाग्नि सुलग रही थी। उन्मत्त ब्रिटिश प्रभुताने इस नयी चेतनाका निर्दलन करनेके लिए कमर कसी और उल्काकी भाँति भारतीयता पर टूट पड़ी। भारतकी दीप्ति और उसके जागरणका बलपूर्वक उच्छेद किया जाने लगा। एक बार इस देशके वैधानिक और क्रांतिकारी आन्दोलनोंको भरपूर शक्तिसे कुचल देनेकी चेष्टा की गयी। रौलट बिल स्वयं उसी चेष्टाका व्यक्त रूप था। उसके प्रतिरोधमें उठी हुई भारतकी आवाजको रोकनेके लिए भारतीयताका कण्ठच्छेद करनेकी चेष्टा पंजाबके हत्याकाण्डमें की गयी। यही अवसर था जब सहसा गांधीजी रङ्गमंचपर अवतरित हुए। एक ओर भारतका निर्दलन था, दूसरी ओर मनुष्यताके नेत्रोंपर पड़ा हुआ पाश्चात्य सभ्यताका आवरण हट

रहा था, तीसरी ओर विश्वके सूत्रधारोंकी नेकनीयतीमें जगत विश्वास खो रहा था और चौथी ओर संसारके दलितांशकी चेतनासे भारत आपन्न था। ब्रिटिश निरंकुशता, दमन और उन्मादने हमारा गला घोटनेकी चेष्टा आरम्भ कर दी। इसकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रकी आत्मा विक्षुब्ध थी; वह विक्षोभ व्यक्त कैसे हो? खुलनेवाले मुँहकी जिह्वा कतर ली जाती, उठनेवाली आँख फोड़ दी जाती, शब्द निकालनेवाले कण्ठका छेदन कर दिया जाता। वेगपूर्वक और बलपूर्वक ब्रिटिश उन्माद हमारी छातीपर जमकर बैठ गया। भारतमें विक्षोभ था पर भीतर-भीतर ज्वालामुखी धधक रहा था। विस्फोटका पथ नहीं मिला। जगतमें अबतक राष्ट्रोंके सामने दो ही मार्ग थे। सशस्त्र विप्लवके द्वारा निरंकुश सत्ताको उखाड़ फेंकनेकी चेष्टा करना और यदि यह शक्ति न हो तो जलते हुए हृदयको लेकर भी आततायी चरणोंपर मस्तक टेक देना। सशस्त्र विद्रोह या आत्मसमर्पण यही दो पथ थे जिसे इतिहासने अबतक मनुष्यता-के सम्मुख प्रस्तुत किया था। भारतने सशस्त्र विप्लवकी तैयारी की थी पर वह बुरी तरह विफल हुई थी और उसके नेताओंका मस्तक कुचलकर समस्त विद्रोहिणी शक्तिका उन्मूलन करनेकी ओर पग बढ़ाया जा चुका था। अब उसकी कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी। वैधानिक पथ मृग-मरीचिका सिद्ध हो चुका था। फिर भारत क्या आत्मसमर्पण कर दे, यही प्रश्न था। पथ न मिलनेसे देशका अन्तर निर्बल हो चला। हमारी मनुष्यता कुण्ठित और नैतिक बलका क्षय हो रहा था। तभी तो भारत अमृतसरकी गलियोंमें पेटके बल रेंगनेको तैयार हो गया। चौराहोंपर सार्वजनिक रूपसे कोड़े और जूते पड़े, पर देशमें आग न लग सकी। क्यों? इसलिए कि पथभ्रांत भारत अपना

नैतिक बल खोकर मुँहके बल गिरा चाहता था। यही युग था जो हमारे पतनको और ब्रिटिश पशुताको चरम बिन्दुतक पहुँचा चुका था।

ऐसे युगमें समाज किस बातकी अपेक्षा कर रहा था? राष्ट्रके हृदयकी कामना क्या थी? उत्तर स्पष्ट है। युग चाहता था उस असन्तोषाग्निके विस्फोटका मार्ग जो देशके अन्तरमें सुलग रही थी। इतिहास अपेक्षा कर रहा था भारतीय राष्ट्रके प्रचण्ड प्रतिरोधकी अग्निके प्रज्ज्वलनकी। राष्ट्र विद्रोहका पथ ढूँढ़ रहा था। पर क्या प्रतिरोध और विद्रोहके लिए कोई मार्ग था? हमारी सारी योजना विफल हो चुकी थी। हमारे बन्धन दृढ़ हो चुके थे। हम अशस्त्र और असहाय थे। चतुर्दिक अन्धकार था। पथ दिखाई नहीं देता था। निराशा छायी हुई थी। अपनेमें विश्वास हम खो रहे थे। यह परिस्थिति थी और वह थी परिस्थितिकी माँग, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐसे ही समय भारतके ऐतिहासिक अन्तरिक्षसे सहसा एक ध्वनि आयी। ध्वनि कोमल थी पर उसमें बल था, दृढ़ता थी और समस्त राष्ट्रको आमूल झंकृत कर देनेका सामर्थ्य था। अन्तरिक्षसे आयी हुई यह ध्वनि भारतके राजनीतिक क्षितिज-से टकराकर प्रतिध्वनित हुई। ऐसा मालूम हुआ मानों भारतमें विद्युतकी भाँति नभमण्डलसे सहसा कोई ज्योति अवतरित हुई जिसकी स्वर-लहरीने भारतके कण-कणको प्रकम्पित कर दिया। देववाणीकी भाँति इस ध्वनिने नयी प्रेरणा प्रदान करके भारतके सम्मुख वह नया पथ खोल दिया जिसकी ओर यह वाणी संकेत कर रही थी। उसके स्वरमें ओज था। वह बोली कि अन्याय और अनीतिके सम्मुख मस्तक झुकाना मनुष्यताका अपमान करना है। सिर कट जाने दो पर घुटने न टेको। भौतिक

शक्ति ही एकमात्र सत्य नहीं है। आत्माका बल महान् है जिसके प्रकाशके सम्मुख भौतिकताके अन्धकारकी सत्ता विलुप्त हो जाती है। उस वाणीने राष्ट्रका आवाह्न किया कि अन्यायके सम्मुख सिर झुकाकर जीनेकी अपेक्षा मरजानेमें ही अमरता है। अस्त्र उठानेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि बलवती पशुताका परिमार्जन करनेके लिए अधिक बलवती पशुताका सर्जन करना पड़ेगा। पशुताको प्रश्रय मत दो पर पशुताके सम्मुख पलायन भी न करो। उसका प्रतिरोध मनुष्यताके द्वारा करो जिसका पथ आत्माहुति में सन्निहित है। देववाणीने समस्त भारतीय राष्ट्रको प्रकम्पित किया। उसने चकित होकर इस वाणीमें अपने हृदय के स्पन्दनकी ही प्रतिध्वनि देखी। उसने देखा कि समस्त अन्तरभावोंका व्यक्तीकरण इस ओजमयी वीरवाणीमें हो रहा है। भारतीय राष्ट्रने आँखें खोलकर निहारा तो सम्मुख उस छोटीसी कायामें व्यक्त एक महती आत्माके दर्शन किये जो भारतके युग, भारतके इतिहास, भारतकी भावना, भारतकी आकांक्षा और भारतके वेश, भारतके संस्कार, भारतकी कल्पना और भारतके आदर्शका एक साथही सजीव प्रतिबिम्ब है। इस तपःपूत कृषकायामें समस्त भारतीयता अपनी सहस्राब्दियोंकी सारी उज्ज्वल विभूतिके साथ एकबार ही मूर्त दिखाई पड़ी। भारतने सदा अपने जीवनमें आत्मबलकी सत्ता स्वीकार की थी। भारतने विश्वको अमरताका सन्देश दिया था। भारतने शिक्षा दी थी कि मृत्यु जीवनका ही एक स्तर है जो किसी नव-जीवनकी ओर संकेत कर रहा है। जिस भारतने समस्त जगतको कालके भयसे मुक्त करके अमरताकी ओर अग्रसर किया था वही समय पाकर मृत्युसे भयभीत होने लगा था। जिस दिन उसने मरनेसे डरना आरम्भ किया

इसी दिनसे उसकी मौत आरम्भ हो गयी। आज भारतीय राष्ट्रकी समस्त चेतनाको लिये हुए आविर्भूत हुए गांधीने इस पुरातन राष्ट्रकी इस चेतनाको अपनी पुकारसे जागरित किया जिसकी मोहनिद्रा भारतका सर्वनाश कर रही थी। भारतके प्रबुद्ध चेतनने सहसा अपने स्वरूपकी अनुभूति की और गांधीमें उसका उन्मुक्त और ज्वलन्त प्रतिविम्ब देखा। फिर क्या था, राष्ट्र उस ध्वनि-लहरीके आकर्षणसे आकृष्ट हुआ, सामने आलोक पाया और आगे चलनेके लिए विस्तृत राजपथका दर्शन पाया। भारतमें गांधीने मनुष्यताके इतिहासमें अभिनव और उस दैवी संघर्षका सूत्रपात किया जो अबतक कवियोंकी कल्पनाकी ही वस्तु थी। पर गांधी केवल भारतकी परिस्थितिकी माँग से सम्भूत नहीं था। यह मनुष्यताकी अपेक्षाका उत्तर देने भी आया था। प्रथम महायुद्धने मनुष्यकी पशुताके घृणित दर्शन किये थे। उसने देखा था कि पाश्चात्य संस्कृतिने भूतोंकी उपासना सिखाकर मनुष्यको प्रेत बना दिया। उसने देखा था कि भौतिकताके प्रबल प्रभावसे मूढ़ हुआ मनुष्य इस दृश्यलोकके उत्तर जगत्की कल्पनामें भी असमर्थ है। उसने अनुभव किया कि विज्ञानके ऊपर आलंबित प्राणिशास्त्र यह शिक्षा देता है कि मनुष्य मूलतः पशु है। उसने देखा कि भौतिक शास्त्र यह सिखाता है कि जगत् एक आकस्मिक घटना है जिसका आविर्भाव जड़, अन्ध, अचेतन और भौतिकतत्वोंके अकस्मात् केन्द्रीयकरणके कारण हो गया। उसने देखा कि विज्ञान यह घोषणा करता है कि सृष्टि और जीवनका कोई प्रयोजन नहीं है। सारा विधि-प्रपंच निष्प्रयोजन, लक्ष्यहीन किसी अज्ञात दिशाकी ओर अनवरत यात्रामें संलग्न है जो एक दिन स्वयं भौतिकतत्वोंके बिखरनेके साथ-साथ विच्छिन्न हुआ मात्र रह जायगा। इस शिक्षाने मनुष्यका

दृश्य जगत् ही तक बाँध रखा है। भूतसत्ताको ही सत्य मानना, मनुष्यताको मूलतः पशुतत्वपर प्रतिष्ठित समझना, भोग, प्रजनन, और उदरको ही जीवन-व्यापारकी प्रेरणा मानना और अर्थ तथा कामको ही साध्य स्वीकार कर लेना वह दृष्टिकोण था जिसे पाश्चात्य जगत्ने मनुष्यको प्रदान किया। मनुष्य वैभव सम्पन्न हुआ, शक्तिशील हुआ, पर मनुष्य न बन सका। जब उसके उज्ज्वल लक्ष्यकी उपेक्षा की गयी तो वह पाशवावशेष रह गया। मनुष्यका यह विकार कारण था उस महाविनाशका जिसकी लीला अभी चरितार्थ हुई थी और पुनः जिसकी ओर मानव समाज चला जारहा है। अज्ञातभावसे मनुष्यताने इसकी अनुभूति की, स्वयं पश्चिमके मनीषियोंने अपनी सभ्यता और संस्कृतिके प्रति अपना सन्देह व्यक्त किया। मानव जाति विकल और पथभ्रष्ट होकर किसी नये सन्देशकी कामना कर रही थी, ऐसे सन्देशकी जो मानवके उत्तमांशको जाग्रत कर सके, जो उसके सम्मुख ऐसा नया मार्ग प्रस्तुत करे जो वास्तविक विकास और प्रगतिकी ओर ले जानेवाला हो! गांधी इसी प्रकारकी प्रतिध्वनिके रूपमें मनुष्यताके सामने आया। वह प्रतिवाद बनकर आया उस समस्त व्यूह और स्वरूपका जिसकी स्थापना पश्चिमने कर रखी थी। उसकी वाणी भिन्न थी, दृष्टि भी, कल्पना और आदर्श भिन्न था। उसने घोषणा की कि मनुष्य मूलतः उत्तम है, जिसका कल्याण उत्तमांशके उज्जीवनमें ही है। दृश्यजगत्की भौतिक सीमाके उस पार देखनेकी शक्ति मानव चेतनाको प्राप्त है, जिस शक्तिका कुण्ठन आज हो गया है। अर्थ और काम साधन नहीं साध्य हैं, इसी लक्ष्यके लिए जिसे नियन्ताने जीवन और जगतके सम्मुख उपस्थित किया है। अर्थ और सामंजस्य यदि नीति और आध्यात्मसे न किया गया और यदि जीवनका

उन्नयन उसी पथसे न हुआ तो उत्तमसे उत्तम व्यवस्था मनुष्यके हाथोंमें पड़कर विनाशकी साधिका होगी। उद्‌बोधन करो मानवकी मानवताका और जागरित करो उसके देवांश को—यह था संदेश जिसे लेकर गांधी मनुष्यताके सम्मुख उपस्थित हुआ।

भले ही उन्मत्त मानवने गांधीकी उस पुकारका तिरस्कार किया, पर सत्यके आवेगको कब कौन रोक सका है? वह अलख जगाता गया और जो कल उसपर हँसते थे आज उसका चमत्कार देखकर मस्तक झुका रहे हैं। भारतकी नहीं मानव समाजकी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिए यह दैवी विभूति आजसे ७९ वर्ष पूर्व भारत-माँकी गोदमें अवतरित हुई थी।

गांधी आज जीवित हैं और हम उसके समकालीन हैं। भारत-भू उसकी जननी है और हम उसके प्रयोगके लिए निमित्त बने। हमारे लिए यह कम सौभाग्यकी बात नहीं है। आज भारतीय राष्ट्र इस व्यक्तिकी परम पुनीत साधनासे पवित्र हुआ है। मनुष्यताने उसके रूपमें एक आदर्श व्यक्त देखा है। भावी इतिहास ही यह बतावेगा कि गांधी मानव विकासके किस धरातलकी रचना कर गया है। हम आज अपने बापूपर गर्व करते हैं और रोम-प्रतिरोमसे यह कामना करते हैं कि भारतीयताका यह महान प्रकाश युगयुगतक मनुष्यताके पथको आलोकित करता रहे।

विज्ञान और बापू

सत्यकी अनुभूतिका स्वरूप तो स्वभावतः प्रगतिशील होता है। मनुष्य अपने अन्तरका वातायन क्रमशः जिस सीमातक उद्घाटित करनेमें समर्थ होगा उस सीमातक सत्यकी प्रकाशमयी रश्मियाँ उसके मर्ममें प्रविष्ट होती चलेंगी। सत्यका रहस्यमय पट एकके बाद दूसरा खुलता चलता है और मनुष्य क्रमशः एकके बाद दूसरे सोपानपर पहुँचता जाता है। धर्म श्रद्धाको निमित्त रूपमें ग्रहण करके सत्यानुभूतिके लिए अग्रसर होनेका आदेश देता है। पर जब यह श्रद्धा अन्ध हो जाती है तो मनुष्य-की अन्तःस्थलीका गवाक्ष बन्द हो जाता है। उस दशामें न सत्यका प्रकाश प्राप्त हो सकता है और न उसकी अनुभूति सम्भव होती है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त बुद्धिके टिमटिमाते दीपकको एक ही झटकेमें बुझा देनेमें समर्थ अन्धश्रद्धाके उदरसे उस स्वतः प्रामाणिकताका जन्म होता है, जो धर्मका रूप ग्रहण करने लगती है। ऐसी स्थितिमें अधिकार-सत्ताका विकास निश्चित हो जाता है और एक ऐसा वर्ग भी उत्पन्न हो जाता है जो धर्मके बहाने इस अधिकार और सत्ताका अधिकारी हो जाता है। यही वर्ग विभिन्न प्रकारकी रूढ़ियों और परम्पराओंकी सृष्टि करके धर्मके वास्तविक लक्ष्यको भ्रष्ट कर देनेमें समर्थ होता है। मानव जातिके इतिहासमें ऐसे अवसर अनेक बार आये हैं। यूरोपका

मध्ययुग धर्मपुरोहितों द्वारा पोषित और पालित अन्धविश्वासका ही काल था, जब शताब्दियोंतक पश्चिमकी भूमि धार्मिकताके आवरणमें अधार्मिक प्रथाओं तथा युद्धोंसे उत्पीड़ित होती रही। अपने लम्बे ऐतिहासिक युगमें भारत अनेक वार ऐसी पतितावस्थासे गुजर चुका है। अन्धरूढ़ियोंमें फँसकर भारतीयता उन्मुक्त चिन्तन और सत्यानुभूतिसे विरत होकर एकाधिक वार अधोमुख हो चुकी है। आज भी उसके पतनका मुख्य कारण अन्धविश्वासोंका वह अन्धकार ही है जिसने उसे अपने पथसे भ्रष्ट कर दिया है।

इस मूढ़तासे मनुष्यको मुक्त करनेके लिए जीवनकी चेतनाका प्रबोधन ही एकमात्र उपाय होता है। प्रगतिका नैसर्गिक प्रवाह समय-समयपर उसके उद्बोधनका कारण बनता रहा है। यूरोपमें धार्मिक सुधार और उसके बाद पुनरुद्धार-युग (रेनेसाँ) का आविर्भाव उस बुद्धिवादके उदयकी शुभ सूचना थी जिसने मनुष्यको कठोर अन्धविश्वासके भीषण बन्धनसे मुक्त किया। इसके साथ-ही-साथ विज्ञानका अंकुर उपजा जिसने क्रमशः धर्मके स्थानपर बुद्धिवादकी सत्ता स्थापित कर दी।

एक दृष्टिसे यूरोपके कतिपय शताब्दियोंके इतिहासको हम उस अन्ध-मूढ़ताकी प्रतिक्रिया कह सकते हैं जो बुद्धिवादके रूपमें विकसित हुई। निस्सन्देह यह प्रतिक्रिया अभूतपूर्व रूपसे उग्र और कठोर सिद्ध हुई। बुद्धिवादके इस उदयने उन मान्य, संयत और ग्राह्य सिद्धान्तोंकी जड़ हिला दी जिनका आधार विशुद्ध धार्मिक विश्वासके सिवा दूसरा न था। पर यह विद्रोह अपनी सीमाको अन्धविश्वासके विरुद्ध परिमित न रख सका। विद्रोहकी उत्तेजित स्थिति एक बार उग्र रूप धारण कर लेनेके बाद अन्तिम सीमातक गये बिना बाकी नहीं रहती। फलतः बुद्धिवादने उस उचित श्रद्धा और आस्थाका उन्मूलन भी कर

दिया जिसका आधार ग्रहण करके मनुष्य शक्ति तथा लक्ष्यके लिए बलि चढ़ जानेकी उत्प्रेरणा प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

जीवनको आदर्शकी ओर अग्रसर करने और तदुद्भूत संघर्ष जनित पीड़ामें भी सुखका अनुभव करानेवाली शक्तिका स्रोत श्रद्धाके बिना दूसरा कौन हो सकता है? बुद्धिवाद प्रचण्ड शंका और घोर अविश्वास लेकर यूरोपके विचाराकाशमें छा गया। उसके प्रबल वेग और गम्भीर आघातके सम्मुख वे सारी भली-बुरी भावनाएँ बह गयीं जो धर्म-जनित विश्वासके आधारपर स्थित होकर जीवनका संचालन करती थीं। बुद्धिवादकी इस प्रवृत्तिको विज्ञानने न केवल प्रोत्साहन प्रदान किया बल्कि उसकी गहरी जड़ भी जमा दी। जिस प्रकार सत्यके अनुशीलनके लिए विश्वासको ग्रहण करके अग्रसर हुआ धर्म अंधपरम्परा और रूढ़ियोंमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार केवल बुद्धिवाद शुष्क तार्किकता और भ्रमजनक दृष्टिके कुचक्रमें फँसकर लक्ष्यसे दूर रह जाता है। अतिवादका आश्रय ग्रहण करना सदा उस संतुलन और समन्वयको नष्ट कर देता है जिसके आधारपर ही जीवनका निर्माण संभव है। विज्ञान यह भूल गया कि पूर्ण मानवकी परिमित बुद्धि असीम सत्यको अपनी संकुचित परिधिके द्वारा ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। अन्य अनुभूतियोंके आधारपर सत्यका अंतिम स्वरूपांकन संभव नहीं हो सकता। क्या इन्द्रियोंकी शक्ति सीमाबद्ध नहीं है? क्या उससे लब्ध ज्ञान भ्रान्त नहीं हुआ करता? क्या महाप्रकृतिकी अनंततामें ऐसे असंख्य तत्वोंका समावेश नहीं है, जिनकी कल्पना करना भी बुद्धिकी सीमासे परे हो? फिर एकमात्र उसीको आधार मानकर प्राप्त ज्ञान और अनुभवको 'इदमित्थम्' कह देना क्या अपने ही अंतःप्रदेशके कपाटको बन्द कर देना नहीं है?

विज्ञाननें विश्व और मनुष्यकी कल्पना करते हुए उस रहस्यवाद और भावना-प्रवाहको अपने विचार-क्षेत्रसे पृथक् कर दिया जिसकी विराट छायामें जीवन गतिशील है। उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य था, क्योंकि उसकी दृष्टिमें सत्ता केवल उस पदार्थकी है जो दृश्य, स्पृश्य और बुद्धिग्राह्य हो। प्रयोगशालाकी प्रयोग-पद्धतियोंसे वहिर्गत अमूर्त विश्वका अस्तित्व स्वीकार करना मनुष्यको वैज्ञानिक बुद्धिवादकी सीमासे ऊपर ले जाकर रहस्यवाद और भावनाके क्षेत्रमें पहुँचा देना है जिसे स्वीकार करना विज्ञानके क्षेत्रके बाहर है। इस दृष्टिकोणने मनुष्यको स्थूल 'भूतोंकी' ओर उत्प्रेरित कर दिया है। जगत् और जीवन क्या है और इनकी उपयोगिता तथा लक्ष्य क्या है, ये प्रश्न सनातन हैं, जो मनुष्यकी नैसर्गिक कुतूहलप्रकृति तथा जिज्ञासाके विषय रहे हैं। धर्म अवतक इन प्रश्नोंका उत्तर अपने ढंगसे देता रहा है और आग्रह करता रहा है कि उसकी व्याख्याको आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया जाय। परन्तु विज्ञानने यद्यपि उस आधारको प्रकम्पित कर दिया तथापि उसके लिए आवश्यकता थी कि मनुष्यके हृदयकी उपर्युक्त पुकारका कोई दूसरा समाधान उपस्थित करे। उसने दृश्य जगत्के स्थूल रूपको सत्यकी खोजका साधन बना लिया और जीवन तथा जगत्की सारी व्याख्या उसीके द्वारा उपस्थित करनेकी चेष्टा की। १६वीं शताब्दीसे जिस विज्ञानवादका उद्भव हुआ उसने १९वीं शताब्दीमें तत्सम्बन्धी प्रश्नोंके जो उत्तर उपस्थित किये उन्होंने जगत्की धारणा, उसके विचार-प्रवाह तथा जीवन सम्बन्धी उसके दृष्टिकोणको आमूल प्रभावित किया। यह जाननेके लिए कि वैज्ञानिक कल्पनाओं, विचारों तथा सिद्धान्तोंने जहाँ एक ओर प्रकृतिके अनन्त रहस्यों-

का उद्‌घाटन किया, जहाँ उन्होंने उसकी अपरिमेय शक्तिपर अधिकार स्थापित करनेमें मनुष्यको असाधारण क्षमता प्रदान की, वहीं साधारण मनुष्यके जीवन और उसकी वृत्तियोंको किस प्रकार प्रभावित किया, संक्षेपमें इन विचारोंकी समीक्षा कर लेना आवश्यक है। यहाँ स्थूल रूपसे भौतिकविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान तथा मानसिक विश्लेषण-विज्ञानके द्वारा जगत्, जगत्के प्राणी और मनुष्यके जीवनके स्वरूपकी व्याख्या उपस्थित की गयी। हमें यह देखना है कि विज्ञानने इनके सम्बन्धमें कौन-सी धारणा और कल्पना उपस्थित की ?

भौतिक विज्ञानकी दृष्टिमें सारे विश्वका स्वरूप विराट यन्त्रके सिवा कुछ नहीं है, जिससे घटित सारी घटनाएँ भौतिक तत्वोंकी उछल-कूद तथा गतिशीलताके ही परिणाम हैं। भौतिकतत्वके भूतकणोंकी गतिशीलता उस सहज यन्त्रधर्मका परिणाम है जो स्वयं अकारण और अकस्मात् परिचारित हो गया है। भौतिक-विज्ञान यह प्रतिपादन करता है कि विश्वके यंत्रात्मक रूपका संचालन अचेतन यान्त्रिक जड़विधानके अनुसार होता रहता है। शून्यमें निष्प्रयोजन और अनुद्देश्य उड़ता हुआ भौतिककण अनिवार्य नियमोंकी चपेटके फलस्वरूप अज्ञात रूपसे इस अनन्त जगत्की रचनाका कारण बन गया है। हमारा जीवन भी उसी प्रक्रियाका परिणाम है। भौतिक विज्ञानकी जगत् सम्बन्धी यह व्याख्या क्या किसी चेतन सत्ताको पदच्युत करके उसके स्थान पर अचेतन किन्तु गतिशील भूतकी सत्ता प्रतिष्ठित नहीं कर देती ? क्या उसके अनुसार मनुष्यकी भावना और कामना, उसका हर्ष और विषाद, उसका अनुराग और विराग, उसकी बुद्धि और अनुभूति एकमात्र उन्हीं भौतिक तत्वोंका ही परिणाम नहीं है ? क्या मनुष्यकी कल्पनात्मक और कलात्मक अनुभूतियाँ, उसका दर्शन

कर लेती है और यह जन्तु यदि जीवन-रक्षामें सफल हुआ तो क्रमशः विकसित होकर अधिक उन्नत और नवीन जातिमें परिणत हो गया। जो निर्बल सिद्ध हुआ तो वह धरतीसे मिट गया। तात्पर्य यह कि प्राकृतिक निर्वाचन और अस्तित्व रक्षाका संघर्ष तथा सबल और योग्यकी विजयके आधारपर विकास होता गया।

यदि यही सत्य है और जीवनकी प्रवृत्ति तथा उसका पथ प्रजननके लिए होनेवाले संघर्ष में दृढ़ताके साथ सफलता प्राप्त करना मात्र है, तो फिर नीति-अनीति, उचित-अनुचित, आदर्श और प्रयोजनकी सारी बातें कोरी बकवादके सिवा और क्या रह जाती है ? विकासका पथ और वास्तविकता तो भोग और भोजन तथा निर्बलके विनाशमें रह गयी। विचार कीजिये कि साधारण मनुष्यकी साधारण बुद्धिपर उपर्युक्त कल्पनाका यही प्रभाव पड़ना क्या अनिवार्य था ? उसकी दृष्टिमें प्रगति और विकासका केवल यही एक स्वरूप न भास गया होगा कि अस्तित्व, रक्षा तथा भोजन और प्रजननके लिए संघर्ष अनिवार्य है जिसमें निर्बलका विनाश भी उसी प्रकार अटल है। इसी प्रकार लड़ते और विनाश करते मछलीसे वानर और वानरसे नरका आविर्भाव हो गया। इसी प्रकार लड़ते और विनाश करते जानेमें कदाचित् नर विकासके किसी दूसरे स्तर पर पहुँचेंगे।

चेतनाका स्वरूप

वस्तुतः जीवनपर केवल भौतिक दृष्टिसे दृष्टिविक्षेप करनेपर सिवा इसके किसी दूसरे परिणामपर पहुँचना असम्भव ही नहीं है; पर भौतिक दृष्टिके सम्मुख भी चेतनाका प्रश्न अनिवार्यतः उठ खड़ा होता है। मनुष्यका मन, उसकी भावना, उसकी बुद्धि क्या कोई भौतिक द्रव्य है ? भूतका धर्म है पिण्डता, रूप, आकार जिसे आप देख सकते हैं, माप सकते हैं और स्पर्श कर

सकते हैं। उसकी गति भी भौतिक नियमोंके अधीन होत
पर मनकी लम्बाई-चौड़ाई कौन नाप सकता है? किसी
और भूखे कंगालको देखकर आपके अन्तरमें भावुकताकी
लहरी लहरा उठती है उसे मापनेके लिए क्या कोई मा
वनाया जा सका है? यदि नहीं तो मन क्या अभौति
पर अभौतिककी सत्ता तो विज्ञानको स्वीकार नहीं है,
उसके लिए इस पहेलीको सुलझाना आवश्यक हो गय
वह यह स्वीकार नहीं करता कि जड़ और चेतन परस
भिन्न वस्तु हैं। फलतः चेतन शरीरसे पृथक नहीं हो स
और शरीर भौतिक है अतः उसकी चेतनाका स्वरूप और
भी भौतिक ही होना चाहिये। इस दृष्टिको ग्रहण करके
मनका वैज्ञानिक विश्लेषण करनेकी चेष्टा की गयी। कहा
कि भौतिक विकासमें एक स्थिति वह आयी जब मूलभूत भ
तत्व उस स्तरपर पहुँचे जहाँ वे अपनी ही अनुभूति कर
अतः भौतिक शरीरमें घटित भौतिक प्रक्रियाका ही प
यह चेतना है। वाह्य परिस्थितियोंके कारण अनेक प्र
उत्प्रेरणाओंके द्वारा शरीरमें जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है
प्रतिच्छायाका नाम ही चेतना है।

इस सम्वन्धमें मनोविज्ञानके रूसी विद्वान पेवला
प्रयोग किये उनके फलस्वरूप इस धारणाकी और अधि
हुई। पशुओं आदि पर तरह-तरहके प्रयोग करनेके वाद
परिणामपर पहुँचे कि उनका शरीर यन्त्रके समान है और
सारा आचरण यान्त्रिक क्रिया-प्रतिक्रियाके रूपमें ही उ
हुआ करता है। वे समझते हैं कि मनुष्यमें दिखाई प
चेतनाके लिए किसी विजातीय अमूर्त तत्वको ढूँढ़नेकी
कता नहीं। मनुष्यका शरीर यन्त्रके समान है जिसमें

भौतिक घटना या क्रियाका उत्तेजन पाकर प्रतिक्रिया होती है। यही प्रतिक्रिया उसके आचरणमें प्रदर्शित है।

यहाँ यूरोपके धुरंधर वैज्ञानिक विद्वानोंके मतमतान्तरोंकी व्याख्या करना लेखकका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य केवल इतना दिखा देना है कि विज्ञानसे प्रवाहित ज्ञानधाराका साधारण मनुष्यके हृदय, उसकी बुद्धि और उसके जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ा है? यदि 'पेवलाव' का कथन सत्य है तो मनुष्य अपने कार्यों-अकार्योंके लिए उत्तरदायी नहीं है। जैसा उत्तेजन प्राप्त होगा यंत्रवत् वैसी ही प्रतिक्रियाका होना अनिवार्य है। तो फिर मनुष्य करने न करनेमें स्वतंत्र भी नहीं है। वह बाध्य है वैसाही आचरण करनेके लिए जैसा उसने किया है। इस स्थितिमें असहाय मानव-जीवनके लिए नीति-अनीति या विधि-निषेधका आडम्बर खड़ा किया जाना व्यर्थ है; क्योंकि मनुष्यकी इच्छा-अनिच्छा या करने न करनेके लिए बुद्धि और विवेकका आधार ही नहीं रहा। तमाशा यह है कि जिस बुद्धिवादका सहारा लेकर विज्ञान महानटी-के रहस्यमय स्वरूपको अनावृत करके सत्यका साक्षात्कार करने चला था उस बुद्धिवादमें बुद्धिके अस्तित्वका भी लोप हो गया।

फ्रायडका सिद्धान्त

फ्रायडने तो इसकी और पोल खोल दी। उनके कथनानुसार मनुष्यका संचालन करनेवाली शक्तियाँ विशुद्ध प्रवृत्ति-मूलक हैं जो उसको आपादमस्तक बाह्याभ्यन्तर प्रभावित करती रहती हैं। मनुष्यके व्यक्तित्वका अधिकांश अचेतन मनके रूपमें है जिसे प्रवृत्तियोंका अशान्त समुद्र कह सकते हैं। इस महासागर-में मुख्यतः कामकी और गौणतः विभिन्न प्रकारकी वासनाओं, इच्छाओं और कामनाओंकी उत्ताल तरंगें उठती हैं, अपनी प्रचण्ड चपेटसे जीवन-नैयाको आलोड़ित करती हैं और वेगवती

धारामें उसे वहा ले जानेके लिए अग्रसर होती हैं। फ्रायड समझते हैं कि मनुष्यका दूसरा अंश चेतन मनके रूपमें है, जो न केवल इन भयावने आघातोंसे निरन्तर आहत होता रहता है बल्कि बहुत कुछ उन्हीं कामनाओंसे प्रादुर्भूत है और उन्हींको प्रतिबिम्बित करता रहता है। इनके मतसे बुद्धि भी मनुष्यकी एक प्रवृत्तिका ही प्रतीक है जिसका काम केवल इतना है कि मनुष्य उसके द्वारा अपनी कामनाओंका औचित्य सिद्ध कर सके। बुद्धिका विकास करनेमें मनुष्य सफल हुआ, क्योंकि वह अपनी सहज प्रकृतिके वशीभूत होकर अपनी वासनाओंका औचित्य सिद्ध करना और इस प्रकार एक आवरण डालकर वास्तविक रूपको छिपाना चाहता है।

फलतः 'उन्नत और विकसित बुद्धि, चाहे वह कैसी भी प्रचण्ड और अभिनव क्यों न हो, एक निमित्तमात्र है जिसके द्वारा प्रवृत्तियाँ अपनी वासनापूर्ति तथा सन्तोष-प्राप्तिकी चेष्टा करती हैं।' इस मतके अनुसार स्पष्ट है कि बुद्धि प्रवृत्तिकी दासी मात्र है; क्योंकि जब प्रवृत्ति ही बुद्धिकी प्रेरणात्मिका शक्ति है तब उसकी यह दासी उसी पथपर चलनेके लिए बाध्य है जिसपर चलाना उसकी स्वामिनीको अभीष्ट है। इससे क्या यह अर्थ नहीं निकलता कि हमारे विचार, विश्वास और हमारे कार्य तथा आचरण प्रतिच्छायामात्र हैं हमारी उन सहज वासनाओंकी, जो जीवनके मूलमें स्थिर रूपसे अभिनिविष्ट हैं? क्या मनुष्य भलाईके नामपर, धर्म, नैतिकता और सभ्यताके नामपर जो कुछ भी करता है वह सब लीला है उस प्रवृत्तिकी जो अपनी वासना पूर्ण करनेके लिए बुद्धिका सहारा लेकर जगतका प्रवंचन करती रहती है? यदि यही सत्य है तो मानना होगा कि जीवनका सिवाय इसके और कोई प्रयोजन नहीं है कि वह प्रवृत्तियोंकी

उपसर्ग पैदा करती हैं, उसी प्रकार सभ्यताद्वारा सामूहिक रूपसे उसका निर्दलन और तत्सम्बन्धी अतृप्ति उस सामूहिक असंतोष-का प्रजनन कर रही है। जो स्वयं सभ्यताके लिए संकटका कारण हो रहा है। आधुनिक सभ्य संसारपर साधारणतः और विशेषतः यूरोपके सभ्योंपर फ्रायडके विचारोंका गहरा प्रभाव है। पर नम्रतापूर्वक क्या नहीं पूछा जा सकता कि साधारण मनुष्यके जीवनपर इन विचारोंका कौन-सा प्रभाव पड़ना संभव है ? क्या वासनाएँ, विशेषकर कामवासना यदि जीवनकी संचालिका है और यदि मनुष्यका चेतन और अचेतन अंश, उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि, उसकी अनुभूति और विवेक, न केवल वासनाओंकी प्रतिच्छायामात्र है बल्कि किसी-न-किसी रूपमें उसकी पूर्तिके लिए ही उपयुक्त होते हैं, यदि वासनाओंका अधिकाधिक संयम और इन्द्रियोंका दमन तरह-तरहके उपद्रव और किसी विकारका प्रजनन करता है और यदि इनकी तृप्तिसे ही समाज तथा जीवनका विक्षोभ समाप्त हो सकता है तो क्या नीति-अनीति और उचित-अनुचितकी विवेचना व्यर्थ नहीं हो जाती ? क्या साधारण मनुष्यकी स्थूल बुद्धिपर इन विचारों-का यही प्रभाव न पड़ेगा कि यथासम्भव वासनाओंकी तृप्ति तथा अहम्‌की उपासना करते चलिये, क्योंकि जीवनका धर्म और प्रवाह यही है, जिससे बलपूर्वक विरत करनेकी चेष्टा असंतोष, क्षोभ तथा अन्य अनेक प्रकारके उपद्रवोंका सृजन करनेका कारण होती है।

भविष्यके गर्भमें

इन विचारोंके प्रकाशमें विश्व और जीवनका कैसा स्वरूप, और कैसी कल्पना उसकी दृष्टिमें भास उठी होगी ? गत एक

शताब्दिसे वैज्ञानिक विचारधारा समस्त सभ्य जगतको प्रभावित कर रही है यह असंदिग्ध है। पर उसके फलस्वरूप साधारण मनुष्य-जीवनके प्रति कौनसा दृष्टिकोण ग्रहण करनेके लिए उत्प्रेरित होगा? इङ्गलैंडके प्रसिद्ध लेखकने विश्व और जीवनकी कल्पनाके सम्बन्धमें आधुनिक वैज्ञानिक विचारोंके प्रभावका वर्णन जिन शब्दोंमें किया है उससे अधिक उत्तम ढंगसे उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। जोड लिखते हैं 'कोपरनिकसने विश्वकी योजनामें इस पृथ्वीकी महत्ता और प्रमुखता मिटा दी। पृथ्वीपर मनुष्यकी प्रमुखताको डार्विनने मिटा दिया और मनोविज्ञानने मनुष्यके शरीरमें स्थित चेतनका महत्व मिटा दिया। इस प्रकार जीवनका कोई महत्व या मूल्य रह ही नहीं गया। भूगर्भशास्त्रने इस धरातलकी बड़ी लम्बी उमर बता दी और ज्योतिर्विज्ञानने दिक्की असीमता सिद्ध कर दी। उनके मतसे न जाने कितने युग ऐसे बीते होंगे जब पृथ्वीपर जीवनका स्पन्दन रहा होगा। कोटि-कोटि ऐसे भूपिण्ड होंगे जिनमें जीवनका पता भी न होगा। अनन्त दिक् कालकी इस विराट सत्तामें पृथ्वीपर जीवन उस प्रकम्पित, निर्बल और टिमटिमाते दीपकके समान है, जो एक दिन जब सूर्य शीतल हो जायेगा और पृथ्वी प्राणका पोषण करनेमें समर्थ न रहेगी, सरलतासे बुझ जायगा। उस समय यह भूमण्डल भी विराटके किसी कोनेमें निर्जीव पड़ा रहेगा?'

"विज्ञानकी कल्पना यदि सत्य है तो यह जीवन विश्वकी योजनाका कोई महत्वपूर्ण अङ्ग नहीं है, प्रत्युत अकस्मात् घटित एक घटनामात्र है, जो पार्थिव भूतोंके विकासमें सहसा घट गयी और सहसा भूतही भूतकी अनुभूति करने लगा। निर्जीव, पार्थिव विश्वसत्ताकी असीम शून्यतामें यह जीवन एक विजातीय यात्रीकी

भाँति अकस्मात् आ पड़ा है जो विरोधी परिस्थितियोंमें यात्रा करते हुए एक दिन महत्वहीन प्रकारसे आपही आप वैसे ही समाप्त हो जायगा जैसे किसी समय अमीबाके रूपमें उसने अनायास यात्रा आरम्भ कर दी थी। विश्वमें सर्वत्र, चतुर्दिक एकमात्र अचेतन, भौतिक अंध-पाशव शक्तिकी सत्ता स्थापित है।"

जब सृष्टिका अंत होगा

जोड आगे लिखते हैं—"मानवताके भविष्यके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कल्पनाका प्रभाव आशाजनक नहीं है। वास्तवमें मनुष्यता पहले ही डूब गयी। एक समय था जब अत्यधिक उष्णता और नमीके कारण पृथ्वी जीवनके अयोग्य थी। एक समय आवेगा जब धरातल पुनः जीवनके लिए अयोग्य हो जायगा। जब सूर्य ठंडा पड़ जायगा तब यह पृथ्वी मनुष्यसे हीन हुई रहेगी। पृथ्वीके अंतिम निवासी वैसे ही असहाय और जड़ प्राणी होंगे जैसे आरम्भमें थे। मनुष्य द्वारा उपार्जित सारा ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, दर्शन-साहित्य सब नष्ट हो जायगा और उन उध्वस्त भूत नगरियों परसे प्रलयंकर हिम-प्रवाह प्रवाहित होता रहेगा जहाँ आजका मनुष्य स्नेह, आशा सुख-दुखकी अनुभूति कर रहा है। एक धरातलका अन्तिम मानव जीवनकी अंतिम साँस लेकर लुप्त हो जायगा और यह भूमंडल पुनः प्राणहीन कन्दुककी भाँति मानवताका अवशिष्ट भस्म लिये अनन्त शून्यताके किसी कोनेमें लुढ़कता रहेगा।"

अब जरा इस पीठिकापर विचार करके देखिये कि इन धारणाओंके द्वारा साधारण मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ेगा वह उसे किधर ले जायँगी? ये कल्पनाएँ जीवनके सामने कौनसा

आदर्श स्थापित करेंगी ? कौनसा पाप पथ निर्धारित होगा जिस-पर चलना मनुष्य अपने लिए आवश्यक समझेगा ? अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी विवेचना वह किसके प्रकाशमें करेगा ? जीवन और जगतके प्रति कौनसी दृष्टि ग्रहण करेगा ? जीवनमें आदर्शोंका स्थान असंदिग्ध है। भले ही कोई यथार्थवादी होनेका दावा करे, पर वह भी इस वातको अस्वीकार नहीं कर सकता कि मनुष्यके आचरणमें सप्रयोजनता अनिवार्य होती है। मनुष्यके स्वभावकी रचना ही इस प्रकार हुई है कि उसके कार्य, आचरण और विचार विशुद्ध रूपसे अहैतुक हो ही नहीं सकते। हम अपने प्रयोजनसे परिचित हों या न हों, पर अप्रत्यक्ष रूपसे हमारे विचारों और कार्योंकी सीमा उससे वँधी रहती है।

वताइये तो सही कि विज्ञान जीवनके सामने उसके लिए किस प्रयोजनको ज्वलंत रूपमें रखने समर्थ हुआ है ? बुद्धिवादका आश्रय लेकर विज्ञान भूतोंकी उपासनामें रत हुआ और उसने इसीमें सत्यके साक्षात्कारकी आशा की। भूतकी उपासना करते हुए वह उसमें ऐसा लय हुआ कि उसके सिरपर भूतकी ही सत्ता स्थापित हो गयी। विश्व यंत्र मात्र रह गया, मानव-शरीर जड़ हो गया और उसकी चेतना यांत्रिक जड़ताके सिवा कुछ न रह गयी। मनुष्यकी उत्पत्तिकी खोज करते हुए पशु, पशुके बाद कीड़े-मकोड़े और घोंघे मछली तक पहुँचा। पशुसे प्रजनित मनुष्यमें पशुताके सिवा दूसरा दिखाई ही क्या देता ? पशुकी आराधना करते हुए मानव पर पाशवका उठना अनिवार्य था। उसकी समझमें यह आया कि जिन नियमोंसे पशु-प्रवृत्ति और जीवन संचालित हैं वे ही मनुष्यका भी संचालन करते हैं। बुद्धि और विवेकके द्वारा हम मनुष्यको पशुसे भिन्न समझ सकते

हैं; पर मनोविज्ञान तथा मानसिक विश्लेषणने उनकी सत्ता भी मिटा दी।

उदर और अजननके लिए संघर्ष करते हुए निर्बलके लोप और सबलकी विजयमें विकास दिखाई पड़ा। प्रगतिका पथ और जीवनका सहज-धर्म इसीमें मूर्तिमान समझा गया। दूसरे शब्दोंमें "शिश्नोदरवाद" में प्रकृतिका प्रवाह समझा गया। जो दूसरेको कुचलनेकी शक्ति रखते हैं उन्हींको जीवित रहनेका अधिकार है; क्योंकि विकासकी धारा सबलके अस्तित्व और निर्बलके लोपके मध्यमें प्रवाहित दिखाई पड़ी। इस स्थितिमें विश्व और जीवनका कैसा स्वरूप, उसका कौनसा प्रयोजन और उसके सामने कौनसा आदर्श भास उठेगा ? क्या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यके भ्रष्टांशका ही उद्बोधन नहीं हुआ ? क्या प्रभुताकी प्राप्ति, इन्द्रियोंकी तृप्ति और अहम्‌की उपासना मात्रके सिवा जीवनके सामने उपर्युक्त विचार कोई और लक्ष्य स्थापित करनेमें समर्थ हो सकते हैं ? मै यह नहीं कहता कि विज्ञानने जानबूझकर यह स्थिति उत्पन्न कर दी। पर जानमें हो या अनजानमें जिस वातावरणके सर्जनमें वह सहायक हुआ है, उसकी उपेक्षा कर उसके प्रति आँखें मूँद लेना भी संभव नहीं है।

विज्ञानकी एकांगी दृष्टि

विज्ञानने जगतकी ओर एकाङ्गी दृष्टि लेकर दृष्टिपात किया है। प्रकृतिका रहस्यमय पट उद्घाटित करनेकी चेष्टामें उसने उस भौतिक दृष्टिको ग्रहण किया जो स्थूल पार्थिवताका भेदन करके उस अलौकिक लोकका दर्शन न कर सकी, जिसकी अभिव्यक्ति भासमान दृश्य सत्ताके रूपमें प्रतिष्ठित है। वह यह न समझ सका कि कोरी और शुष्क बुद्धि मनुष्यको एक सीमाके

परे ले जानेमें सफल नहीं हो सकती। भावनाहीन बुद्धिका सहारा लेकर आगे बढ़ना उस निर्बल यष्टिकाके ऊपर भरोसा करनेके समान है, जो थोड़ा भार पड़ते ही चूर हो जानेके लिए बाध्य है। अनादि भूतमय विश्वको ग्रहण करके उसने अदृश्य भाव लोककी गहरी उपेक्षा की। मानवके पार्थिव पिण्डके साथ-साथ भावमय मनुष्यकी सत्ता भी है, इसे स्वीकार करनेमें विज्ञान समर्थ न हो सका। परिणाम यह हुआ कि उसने जीवन और जगतके एक पहलूको ही सत्य मान लिया। विज्ञान प्रकृतिकी शक्तिपर अपना अधिकार स्थापित करनेमें भले ही सफल हुआ हो, पर आज वह मनुष्यको अपने ही अन्तर पर विजय करनेके योग्य न बना सका।

भौतिक जगतकी रचना, जन्तु जातिका आविर्भाव तथा विकासकी महती प्रक्रिया क्या केवल भूतोंके विकास तक ही परिमित रही होगी? क्यों डार्विन यह न देख सके कि अचेतन, निष्प्राण भूपिण्डपर चेतनका स्पंदन कोई आकस्मिक नहीं अपितु सप्रयोजन घटना भी हो सकती है? जीवके विकासमें उन्हें जिस क्रमबद्ध कठोर नियमितताका दर्शन हुआ उसीमें किसी हेतुका संदेह क्यों न हुआ? क्या हेतुका दर्शन न होने मात्रसे उसके अनस्तित्वकी घोषणा कर देना उचित हो सकता है? दृश्य भूतोंमें अदृश्य चेतनकी सत्ता क्या दोनोंके अस्तित्वको समान रूपसे सिद्ध नहीं करती? क्या एक सत्य है तो दूसरा सत्य नहीं हो सकता? एकका विकास हुआ है तो क्यों दूसरेके विकासको स्वीकार न किया जाय? एकमें रूप है, आकार है और दूसरा अरूप और निराकार है, पर एकका दर्शन यदि इन्द्रियगम्य है, तो दूसरेका आभास भी भावानु-

भूतिसे स्पष्ट है। फिर क्यों एकको स्वीकार करें और दूसरेको अस्वीकार ?

मनुष्य पथभ्रष्ट क्यों ?

विकासकी प्रक्रिया इन दोनोंमें समान रूपसे चरितार्थ क्यों न हुई होगी ? जिस अनुपातमें भौतिक तत्वोंका विकास हुआ उसी अनुपातमें चेतनका विकास भी क्यों न हुआ होगा ? मानवमें पाशव-प्रवृत्तियोंका समुद्र भले ही दिखाई पड़े, पर वहीं क्या उसमें मानवीय प्रवृत्तियोंकी गतिशील सुन्दर-सरिताके दर्शन नहीं होते ? मनुष्य जहाँ वासनाओंसे विताड़ित है, वहीं प्रकृतिने क्या उसे ऊँचे उठनेकी शक्ति प्रदान नहीं की है ? क्या पाशव-भावोंसे सदा संघर्ष करते हुए और उनपर क्रमशः विजय प्राप्त करते हुए मनुष्य मनुष्य नहीं बना ? संस्कृतिकी जड़में उक्त संघर्षमें रत मनुष्यकी सफलता ही क्या मुख्य कारण नहीं है ? युग-युगसे धावित यह पथिक आज जहाँ पहुँचा है, वहाँ वह क्या पशु वासनाओंपर विजय प्राप्त किये बिना कभी पहुँच पाता ? मनुष्य डार्विन और फ्रायड ऐसे ऋषियोंके मस्तिष्कका सर्जन कर सकता है, अनन्त शून्य आकाशके असंख्य पिण्डोंकी संख्या और दूरी माप लेता है, सौर्यमंडलकी परिक्रमा अपने अमूर्त रूपसे कर आता है और पृथ्वीके अटल पर्वतोंके जड़ पत्थरोंसे करोड़ों वर्षके अतीतके इतिहासको सजीव रूपमें मूर्तिमान करनेमें समर्थ होता है, पर क्या यह सब केवल निर्जीव भौतिक तत्वोंकी उछल-कूद अथवा उस नैसर्गिक पशु प्रवृत्तिकी लीलामात्र है जिससे विज्ञानकी दृष्टिमें मानवका निर्माण हुआ ? यह कैसी एकाङ्गी और धूमिल दृष्टि है ?

फ्रायडको सभ्य जगतके असंतोषका कारण उन प्रवृत्तियोंके अधिकाधिक दमनमें दिखाई दे रहा है जिन्हें वे प्राकृतिक मानते हैं। फिर उसका उपाय क्या है? क्या उन प्रवृत्तियोंको खुलकर खेलनेका अवसर दे दिया जाय? जगतमें व्याप्त आजकी उद्दंडता, हिंसा और रक्तपात तथा निर्दलनके रूपमें स्थापित वन्यव्यवस्थाके मूलमें क्या प्रवृत्तियोंको निरंकुश क्रीड़ा करनेका अवसर दे देना मुख्य कारण नहीं है? फिर क्या इसे ही वांछनीय स्वीकार कर लेना होगा? यदि नहीं तो साधारण मनुष्यपर फ्रायडकी दृष्टिका क्या प्रभाव पड़ सकता है? ऐसा ज्ञात होता है कि विज्ञानने मानव-जीवनको असंतुलित कर दिया है। मनुष्यकी वाह्य परिस्थितिको उसने जिस प्रकार अपने ज्ञान और अपनी सफलतासे विकसित किया उसी प्रकार उसके अन्तरको उन्नत न कर सका। आज यह घोर असामंजस्य स्वयं उस विभूतिको ही नष्ट किया चाहता है जिसपर विज्ञानको गर्व है। सभ्य जगतके असंतोषका मूल यह नहीं है कि प्रवृत्तिको नग्न नर्तन करनेका अवसर नहीं मिल रहा है, अपितु यह कि आजके मनुष्यने उसीको एकमात्र सत्य मान लिया है। फलतः वह आत्मविस्मृत है, मोहाच्छन्न है और भ्रान्तिके अंधकारसे पथभ्रष्ट है।

मनुष्यकी प्रवृत्तिमें तथा काममय-रूपमें किसे संदेह हो सकता है? फिर यह समझना कि उसकी प्रवृत्तिका मार्ग केवल ऐहिक वासनाकी तृप्तिकी ओर निर्धारित है, सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मनुष्यकी एक प्रवृत्ति जहाँ भौतिक भोगकी ओर है, वहीं उसकी दूसरी प्रवृत्ति उसे अपने भौतिक परिवन्धनको भूलकर भावालोकमें उद्दीप्त होनेके लिए प्रेरित करती है। जब वह अहम्‌से ऊँचे उठकर सत्यके सूक्ष्म-स्वरूपकी अनुभूति भी करता

है, उस क्षण उसके सुखकी कल्पना भी दूसरी हो जाती है। उत्सर्ग और बलिदानमें तथा अहम्‌के अधिकार और उसकी सत्ताके विसर्जनमें उसे किसी शक्ति-संपन्न अधिनायक तथा भोगासक्त स्वतृप्त मानवसे कम सुखानुभूति नहीं होती। इसी प्रवृत्तिके उन्मेष, उसके विकास और उसकी जागरूकतापर मानवता अग्रसर होती रही है। जिस क्षण उसका यह प्रवाह रुक जायगा उसी समय मानवता भी नष्ट हो जायगी। विज्ञानने मनुष्यके इस अंशके जागरणकी चिन्ता नहीं की। कदाचित् इसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं किया। उपनिषदोंने मानवके स्वरूपको अधिक उत्तम प्रकारसे समझा। जब उन्होंने घोषणा की कि—

> "शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां,
> वहन्ति वासना सरित्।
> पौरुषेण प्रयत्नेन
> योजनीया, शुभे पथि॥
> अशुभेषु समाविष्टं
> शुभेष्वेवावतारयेत्॥

'वासनारूपी-सरिता शुभ और अशुभ दोनों मार्गसे प्रवाहित होती है। मनुष्य पुरुषार्थ और प्रयत्नसे अशुभमें लगी वासनाको शुभमें ले जाय'। शुभाशुभका यह विवेक और संकल्प तथा कार्य-सम्पादनमें आत्म-स्वातंत्र्यका यह प्रतिपादन ही मानवताको अग्रसर करता रहा है और करता रहेगा। इसके विपरीत मार्ग ग्रहण करके यदि जीवनकी निस्सारता और निष्प्रयोजनता स्वीकार कर ली गयी और वासनाओंसे आबद्ध मनुष्यकी तदनुकूल नाचनेकी परवशता मान ली गयी तथा कामनाओंके दलनको दुःखका मूल घोषित कर दिया गया तो फिर मनुष्यताका

भविष्य उस गहन अन्ध-कूपमें झोंक दिया गया जहाँसे उद्धार पानेकी आशा भी नहीं की जा सकती।

धार्मिक संस्थाओंमें और चाहे जितने दोष रहे हों पर उसकी एक प्रवृत्ति ऐसी अवश्य रही है, जिसे हम मानवताके कल्याणके लिए आवश्यक मान सकते हैं। वह प्रवृत्ति है अपने अंतस्थित पशुपर विजय प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको उत्प्रेरित करने की। धर्मने सदा आचारपर जोर दिया है। यह सच है कि उसने स्वतः प्रमाणका रूप ग्रहण करके जिस अन्धविश्वास और अनन्त रूढ़ियों को जन्म प्रदान किया वह भयावनी मूढ़ता फैलाने का कारण बनी। पर यह होते हुए भी उसका एक पहलू उस नैतिकता और आचारवादपर अधिकाधिक जोर देता रहा है, जिसके बिना मानव बुद्धिका मोहित होकर घोर-विशृंखलता और अनाचारमें प्रवृत्त होना अनिवार्य हो जाता है। विज्ञानने धर्मकी स्वतः प्रामाणिकताको छिन्न-भिन्न कर दिया और उसके साथ तदुद्भूत अन्धविश्वास और रूढ़ियोंकी जड़ हिला दी। पर साथही धर्मके उस अंशको भी मटियामेट कर दिया जिसकी आवश्यकता मनुष्यके अभ्युत्थान और कल्याणके लिए नितान्त रूपसे सिद्ध है। शंका और अविश्वासने न केवल अन्धविश्वास को उखाड़ फेंका अपितु उस श्रद्धाका उन्मूलन भी कर दिया जो जीवनके प्रति, उसके भविष्यके प्रति, उसके प्रयोजन और लक्ष्यके प्रति मनुष्यके हृदयमें आस्था और आशाका सर्जन करती है।

आखिरकार आज मनुष्यके जीवनका आधार क्या रह गया है? जब सब कुछ अन्धकाराच्छन्न ही है, जब सर्वत्र अर्ध-पार्थिव पशु-शक्तिका बोलबाला है तो मनुष्य क्यों किसीकी चिन्ता करे, और क्यों शुभाशुभ, नीति-अनीति, उचित-अनुचितके काल्पनिक

और निराधार चक्रमें फँसकर उस स्वाद, सुख और संतोषसे विरत हो जिसे प्रस्तुत जगत प्रदान कर रहा है? विज्ञानने मानवाचार और पुरातन नैतिक कल्पनाको पदच्युत तो किया पर उसके स्थानपर किस दूसरे आचरण और नीतिके स्थापित करनेमें समर्थ हुआ? मनुष्य क्या करे और क्या न करे इसकी विवेचना, प्रतिपादन और प्रतिष्ठा करनेकी ओर क्या उसने कोई ध्यान दिया? उसने तो धर्मके टिमटिमाते दीपकको बुझा दिया पर मनुष्यको उस निविड़तम अन्धकारमें छोड़ दिया जहाँ तृण-संकुल कंटकाकीर्ण पथ पहलेहीसे विलुप्त था। फलतः उच्छृंखल और उन्मत्त मानव मार्ग-भ्रष्ट हो गया। धार्मिक बन्धनोंसे आबद्ध रहते हुए भी जो मनुष्य बहुधा अपने हृदयस्थ पशुकी पुकारमें बह जाता था, वही जब विधि-निषेधोंकी शृंखलासे सहसा मुक्त कर दिया गया तो उसका दानव हो जाना अनिवार्य हो गया।

इस मनोदशामें असद्भावापन्न मनुष्यके चरणोंमें विज्ञानने अपरिमित, अकल्पित और अभूतपूर्व शक्ति तथा ऐश्वर्यका अक्षय भंडार उँड़ेल दिया। शक्ति और संपदा द्विमुखी क्षुर-धाराके समान है जो दुहरा वार कर सकती है। वह सदुपयोगसे कल्याणमयी और दुरुपयोगसे महाविभीषिकाका रूप धारण करके विनाशका कारण हो सकती है। आवश्यकता यह थी कि विज्ञानने जीवनमें सामंजस्य स्थापित करनेकी चेष्टा भी की होती। भौतिक शक्ति और संपदाकी उन्नति अवश्यमेव इष्ट थी, पर इसके साथ ही मनुष्यके स्वरूप और चरित्रका विकास भी उसके अनुकूल ही होना चाहिए था। आज मनुष्य समाजके बौद्धिक-क्षेत्रका अक्षुण्ण नेतृत्व वैज्ञानिक विद्वानोंने प्राप्त किया है। स्वभावतः उनपर ही यह जिम्मेदारी थी कि वे जहाँ प्रकृतिके रहस्य और

उसकी शक्तियों पर अधिकार स्थापनके सूत्र मनुष्यको प्रदान करते हैं वही मानव-जीवनकी जटिलताका साक्षात्कार करते और मनुष्यको इस योग्य बनाते कि वह उसका सदुपयोग कर सके। जिस अनुपातमें विज्ञानकी भौतिक सभ्यता विकसित हुई उसी अनुपातमें मनुष्यका अंतर विकसित न हो सका। प्रमाद और मोहमयी मदिरासे प्रमत्त, पथभ्रष्ट, श्रद्धा और सद्प्रवृत्तियोंसे शून्य मनुष्य उसके दुरुपयोगमें प्रवृत्त हो जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? फलतः जो विभूति वरदान हो सकती थी, वह अभिशाप बन गयी जिसमें वसुधा आज भस्म हो रही है।

विडम्बना यह है कि आधुनिक विचारधारा मनुष्यके असदांश तथा पाशवांशका न केवल अस्तित्व स्वीकार करती है प्रत्युत उसे ही एकमात्र सत्य समझने लगी है। 'यथार्थवाद' और 'प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक नियतिवाद' आदि कुछ भ्रामक शब्द-जालोंके कुचक्रमें फँसकर, मानवता त्रस्त है। प्रसिद्ध चीनी विद्वान और लेखक श्री लिन-यू-ताङ्गके शब्दोंमें कह सकते हैं— 'यथार्थवादी प्रकृतिका अर्थ भयावना हो गया है। कठिनाई यह है कि आजकल सब कुछ प्राकृतिक ही समझा जाने लगा है। जंगलका विधान हमारी दृष्टिमें प्राकृतिक हो सकता है। मनुष्य द्वारा मनुष्यकी हत्या भी वैज्ञानिक दृष्टिसे प्राकृतिक हो गयी है। पाठशालाओंपर नभसे बमवर्षा करके सुकुमार, निर्दोष बालकोंका संहार करना भी प्राकृतिक है। हम तो आज इस प्राकृतिकसे ही परेशान हो गये हैं। सम्प्रति मनुष्य द्वारा मनुष्यका दलन, दोहन और विनाश; हिंसा, रक्तपात और शोषण; वर्गोंकी प्रभुता और संघर्ष सब कुछ 'ऐतिहासिक—नियतिवाद' द्वारा उचित समझा जाता है। शक्ति, प्रभुता और योगकी तृप्तिकी ओर

मनुष्य-स्वभावकी नैसर्गिक वृत्तिके झुकावको सभी स्वीकार करेंगे पर यथार्थवादके नामसे इन प्रवृत्तियोंको गहरा उत्तेजन दिया जाने लगा है, क्योंकि इन 'वादियों'की दृष्टिमें जीवनका एकमात्र स्वरूप यही दिखाई देता है। वे समझते हैं कि यही स्वरूप सदासे रहा है और सदा रहेगा।

मनुष्यके स्वरूप और स्वभावका अधूरा और अपूर्ण ज्ञान लेकर बढ़ना विघातक हो गया। विज्ञानने भी जीवन और जगतके विकासकी गति पर जो एकाङ्गी दृष्टि डाली उसने उपर्युक्त धारणाओंकी पुष्टि ही की। यथार्थता केवल यही नहीं है कि मनुष्य पशु है पर यथार्थता यह भी है कि पशु होते हुए भी मनुष्य मानव है। शक्ति, प्रभुता और अहंका भाव यद्यपि यथार्थ है पर उससे संघर्षरत होकर ऊँचे उठनेकी सद्वृत्तिका उदय होना भी उसी प्रकार यथार्थ है। यदि ऐसा न होता तो पशुसे उद्भूत किसी प्राणिका आदिमानवके रूपमें धरातलपर आविर्भाव भी न हुआ होता। विकासकी प्रक्रिया और उसके क्रमने ही मनुष्यके उदरमें निसर्गतः शुभ और अशुभ-का बीजारोपण कर दिया है। उसीने उसके हृदयमें उचित और अनुचितके विवेककी सहज स्थापना कर दी है। शुभसत्य और औचित्यकी अनुभूति मनुष्यका उसी प्रकार प्रकृत धर्म है जिस प्रकार इन्द्रिय-सुखों और ऐहिक भोगोंकी कामना। मानव समाजके विकासके इतिहासकी धारा यह सिद्ध करती है कि मनुष्य जब-जब अपने अशुभसे ऊँचे उठा है, तब-तब उसकी प्रगति हुई है और उत्थान तथा कल्याणका भागी हुआ है। फलतः इतिहासके प्रवाहमें यदि कोई 'नियतिवाद' हो सकता है तो वह यही है कि विकासकी निरन्तर यात्राके पथिक मानव-को अशुभसे बराबर प्रभावित और विताड़ित होते हुए भी शुभकी

विजयका सम्पादन करना होगा। जीवनके मूल और उसके विकासमें यह तथ्य भी दूसरी तमाम बातोंके साथ-साथ असंदिग्धरूपसे प्रतिष्ठित है।

विज्ञानकी विचार-पद्धति और प्रयोगशालामें जीवनका यह दूसरा पहलू न दिखाई पड़ा और न उसकी चिन्ता की गयी। शुभके जागरणके लिए जिन परिस्थितियोंकी आवश्यकता थी वे भी इसी कारण उत्पन्न न की जा सकीं। उसके शुभ विस्मृत करके उसके पास केवल अशुभ रहने दिया गया। मानवता मिटी तो मनुष्यके पास सिवा पशुताके बाकी ही क्या बच सकता था? मनुष्यकी महत्ता स्थापित करनेके लिए मानवताके प्रति विद्रोह आजके युगकी विशेषता है। विज्ञानने बिचारे धर्म और ईश्वरको पदच्युत करके बुद्धिकी सत्ता स्थापित की। मनुष्यने आशा भी की कि अन्धविश्वाससे मुक्त होकर वह जीवनको सरल आनन्दमय और सुखमय तथा धरिणीको शांतिमयी, मंगलमयी तथा ऐश्वर्यमयी बनानेमें समर्थ होगा। परिस्थिति विचित्र दिखाई दे रही है। मालूम होता है कि खुदाको हटाकर शैतानको ही एकछत्र राज्य दे दिया गया। मनुष्यका विज्ञान भी उसके विनाशका अभिनव साधन हो गया है। सुख, सन्तोष और शांतिका तो कहीं पता नहीं पर मिथ्या, दंभ, पाखण्ड और धूर्तताके द्वारा सिद्ध किये जानेवाले घृणित स्वार्थकी भयावनी दावाग्नि सर्वत्र जलती दिखाई अवश्य दे रही है।

मानता हूँ कि इसके लिए विज्ञान स्वयं दोषी नहीं है। उसका जन्म तो सत्यके लिए मनुष्यकी सहज जिज्ञासा और अनुशीलन प्रवृत्तिके गर्भसे हुआ है। कोई नहीं कह सकता कि उन महर्षियोंने जिनके मस्तिष्कसे विज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ है,

कभी स्वप्नमें भी इसकी कल्पना की होगी कि उनकी साधना और उनकी तपस्याका ऐसा दुरुपयोग किया जायगा। पर ज्ञान-की एकनिष्ठ उपासनामें रत इन विद्वानोंने मनुष्यके प्रकृत-रूपके तमाम पहलुओंकी ओर ध्यान नहीं दिया। वे यह न देख सके कि भौतिक शक्तियोंपर अधिकार स्थापन करनेके साथ-साथ मनुष्यके अंतरका स्पर्श करना कहीं अधिक आवश्यक है। आन्तरिक सभ्यताके बिना भौतिक संस्कृति भयावह हो जायगी; क्योंकि असंस्कृत मानव श्रेयस्कर पदार्थोंका भी दुरुपयोग ही करेगा। उसके हाथमें पड़ी शक्ति उसे पिशाच ही बनाकर छोड़ेगी। मनुष्यके शिवमय-अंशकी उपेक्षामें नहीं, प्रत्युत उसकी उन्नति, जाग्रति और सजीवतामें ही जगतका कल्याण हो सकता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक वे निर्दोष संभार भी जिनसे मनुष्य अपनी अभिवृद्धि कर सकता है, उसकी खलताके कारण दुरुपयुक्त होंगे और अन्ततः उसके पतन तथा विनाशका मार्ग प्रशस्त करेंगे। आजके जगतमें कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी है और इसी कारण मानवता भयावने संकटसे आपन्न दिखाई देने लगी है।

प्रश्न यह है कि इस संकटसे जगतकी रक्षा कैसे की जाय? आजकी सभ्यतामें जो भारी कमी है, जो महान् विकार तथा भयंकर त्रुटि है उसका परिमार्जन कैसे किया जाय? मानव-समाजको यदि अपनी रक्षा करनी है तो इन प्रश्नोंका उत्तर भी ढूँढ़ निकालना होगा। मैं समझता हूँ कि जगत्की आवश्यकता युगान्तरकी अपेक्षा कर रही है। आज हमारी दुनिया नयी दृष्टि-कोण, नये आदर्श और जीवनके नये मूल्य स्थिर करनेके लिए उतावली हो रही है। उसके सम्मुख नया मार्ग प्रस्तुत करना स्वयं मानव-समाजके लिए आवश्यक हो गया है अथवा अपने

विनाशके लिए तैयार हो जाना है। मुझे कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि नये मार्गकी रचनामें भारत ससांरकी सहायता कर सकता है और विकल मानवताकी शांतिके लिए उपाय उपस्थित कर सकता है। अतीतके किसी युगमें इस देशके मनीषियोंने जीवन-के तथ्यकी भूखकी अपेक्षा अधिक समझा था ऐसा मेरा विश्वास है। उन्होंने इस सत्यका साक्षात्कार किया था कि मनुष्य न केवल भौतिक है और न केवल आध्यात्मिक। इन दोनोंके संयोगसे प्रकृतिने उसका निर्माण किया है। इसी दृष्टिकोणको लेकर उन्होंने दोनों पहलुओंमें सामंजस्य स्थापित किया। मनुष्यकी भौतिकताको अवश्य स्थान दिया पर उसकी आध्यात्मिकताको प्राधान्य प्रदान किया। उन्होंने कल्पना की कि मानवकी उन्नति चेतना और विकसित जीवनमें यह नैसर्गिक शक्ति है कि वह अपने स्वार्थ अपने अहम् और अपने क्षुद्र भौतिक बन्धनोंसे निकलकर विराटकी असीमतामें एकात्म हो जाय। मनुष्यको इस ओर अग्रसर करनेके लिए उन्हें यह आवश्यक दिखायी दिया कि मानवका आध्यात्मिक और नैतिक अंश उसके स्थूल जीवन संचालक और नियामक हो। शरीरकी उपेक्षा न की जाय; पर शरीर ही सब कुछ न रह जाय। वह साधन हो किसी साध्यका पर स्वयं साध्य न बन जाय।

जिस दिन भारतने अपने ऋषियों द्वारा प्रदत्त इस तथ्यको भुलाया उसी दिन उसका पतन आरम्भ हुआ। उसके लंबे इतिहासमें एक ऐसा युग आया जब भारतने वही भूल की जो आज यूरोप कर रहा है। यूरोपने यदि आज मानवके सदांश और उसके आध्यात्मिक पहलूकी उपेक्षा करनेकी भूल की है तो एक समय भारतमें उसके भौतिक पहलूकी उपेक्षा करनेकी गलती की थी। जगत मिथ्या है और जीवन भी नश्वर और

असत्य है। इस प्रकारने जिस निवृत्ति मार्गका प्रजनन किया उसने सामूहिक जीवनको ऊँचा तो न उठाया पर जगतकी उपेक्षा करनेकी बात जरूर सिखा दी। मध्ययुगमें इसी प्रकृतिने भारत-में उस निष्क्रियताकी सृष्टि की जो उसे ही ले डूबी। ठीक उसी प्रकार आज यूरोप घोर प्रकृतिका पुजारी होकर 'केवल यही सत्य है और इसके सिवा कुछ नहीं'की रट लगा रहा है। फलतः उसका पतन भी स्पष्ट दिखायी दे रहा है। प्राचीन भारतमें इन दोनोंके बीच सत्यका साक्षात्कार किया था। दोनों अपने-अपने स्थानपर सत्यपर दोनोंके सामञ्जस्यमें ही जीवन और जगतका कल्याण है यह उनका विचार था। आज विश्व-को पुनः इसी संदेशकी आवश्यकता है। उसे आवश्यकता है इस संदेशकी कि, जीवनका, समाजका, उसकी आर्थिक, सामा-जिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाका आधार केवल भौतिकता नहीं हो सकती। अपने ही स्वार्थ और सुख-पिपासा-की शांतिके लक्ष्यको लेकर जिस जीवनका निर्माण होगा वह न केवल पथ-भ्रष्ट होगा बल्कि संसारके लिए अभिशाप बन जायगा। मानवताकी सीमा केवल इतनी ही नहीं है। उसकी भावमयी दुनिया भी है जिसमें सत्य और सौन्दर्यके आधारपर जीवनका मूल्य अंकन करना होगा और उसके आधारपर आदर्शों-की स्थापना करनी होगी। उन्हीं आदर्शोंके अनुकूल आचरण और कर्तव्य तथा अधिकारोंकी रचना करनी होगी जो नैतिकता और मानवताका रूप ग्रहण करेगी। मनुष्यका भौतिक जीवन अपना स्थान रखेगा पर उसे अपने उत्तमांशसे प्रभावित होना पड़ेगा। वही क्षण होगा जब आजका विज्ञान, आधुनिक मानवको मिली हुई शक्ति और विश्वका आजका वैभव उसके लिए वरदान हो सकेगा। उस समय उस महती मानव संस्कृति-

का जन्म हो सकेगा जो खून और खड्ग, स्वार्थ और संघर्ष, हिंसा और द्वेष, घृणा और क्रोध, दलन और दासताके स्थानपर अहिंसा और उत्सर्ग, उदारता और सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और सहयोग तथा समानता और सन्तोषके आधारपर अपने समाजकी रचना कर सकेगी।

मैं समझता हूँ कि आज यही कालकी सूत्रात्माकी पुकार है और यही है अपेक्षा मानव-समाज की। मैं देखता हूँ कि गांधी उसी प्रकारकी सजीव प्रतिध्वनि है जो भारतीय अंतरिक्षसे प्रतिध्वनित हो रही है और आधुनिक सभ्यताकी नयी दृष्टि, नयी कल्पना तथा जीवनके मूल्याविचारके लिए नये मापदंड प्रदान कर रही है। बापू जिस नये आधार और नयी पद्धतिको सामने रखते हैं उसकी विवेचना करना मानव-समाजकी कल्याण-कामना रखनेवाले मनीषियोंके लिए वांछनीय है। बापू यह समझते हैं कि आधुनिक सांस्कृतिक भवन जिस नींव पर खड़ा किया गया है और जिन उपादानों से उसकी रचना की गयी है वे मूलतः विषमय और दोषपूर्ण हैं। वे विश्वकी कल्पना भौतिक यंत्रके रूपमें नहीं प्रत्युत नैतिक विधानके रूपमें करते हैं और यह मानते हैं कि समस्त भव-प्रपंचका संचालन किसी महान प्रयोजन और लक्ष्यको सामने रखकर हो रहा है। वे पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि हिंसा और रक्तसे त्रस्त जगतका उद्धार करनेके लिए यह आवश्यक है कि हिंसा और रक्तपातका विलोप किया जाय। विज्ञानके भौतिकवाद और यन्त्रवादने जिस भोगवादका प्रजनन कर दिया है उसका अनिवार्य परिणाम मनुष्यकी वासनाका उद्दीपन हुआ है। कामनाकी आगमें जलनेवाले मनुष्यके सम्मुख आज कामना उसके उपयोग और उसकी

परितृप्तिके सिवा दूसरा सत्य ही नहीं रह गया। सीधी-सी बात है कि निरंकुश और उच्छृंखल भोगप्रवृत्ति मनुष्य को असंदिग्ध रूपसे पशुताको प्रत्यावर्तित करनेमें समर्थ होगी। सुखकी कामना जब केवल स्वार्थ साधन ऐहिक भोग-वासनापूर्तिमें सीमित होजाय तो जीवनका हिंसापर आश्रित हो जाना अनिवार्य है। आज जगतमें इसीकी लीला दिखायी दे रही है। फलतः बापू यह मानते हैं कि कामनाओंकी पूर्तिकी प्रवृत्तिका अंत हिंसामें होना अनिवार्य है और अपना जीवन तथा जगत पाशविक हुए बिना बाकी नहीं रह सकता।

गांधीजी इस सारी स्थिति और मनोदशाका परिवर्तन चाहते हैं। हिंसाकी प्रवृत्तिका समूल उन्मूलन कदाचित संभव न हो पर गांधीजीकी दृष्टिमें यह स्पष्ट है कि मानव-जीवनमें उज्ज्वलता और देवत्व भी उसी प्रकार निसर्गतः आसीन है जिस प्रकार पशुता, भोग, लालसा और हिंसाकी प्रवृत्ति। उनकी दृष्टिमें यह भी स्पष्ट है कि मनुष्यकी मनुष्यता क्रमशः अपनी पशुताको संकुचित करती हुई, उसपर विजय प्राप्त करती हुई और अपनी उज्ज्वलताको विकसित करती हुई आगे बढ़ सकी है। मानव-विकासकी महती मात्रा उसकी इसी गतिमें चरितार्थ हो सकती है। यह संभव नहीं है कि असत्य, अशिव, असुन्दर और पाशवी प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करके आप ऐसे जगत, ऐसे जीवन और ऐसी संस्कृतिका निर्माण कर सके जो मानवीय, श्रेयस्कर और सुखकर हो सके। बापू यह मानते हैं कि मनुष्यका उज्ज्वलांश ही मानव-जीवनके आदर्शकी ओर संकेत कर देता है। मनुष्यकी पूर्णता ही इसमें है कि वह अहं-मत्वका क्रमिक क्षय करता चले और एक दिन विराटसे तादात्म्य

प्राप्त करे। जब वह विश्वके कण-कणमें किसी एकही सत्य सत्ताके प्रतिबिम्बका दर्शन करने लगेगा इस आदर्शकी ओर पदे-पदे बढ़ते जानाही जीवनका विधेय पथ है और इसीमें है जगतका कल्याण और विकास। अपने इसी संदेश और अपनी इसी विचारधाराको गांधीजी 'अहिंसा' शब्दमें व्यक्त करते हैं। अहिंसा वह साङ्केतिक शब्द है जिसके द्वारा उनका सारा विचार दर्शन प्रस्तुत होता है। यह न समझिये कि गांधीजीकी अहिंसा-का अर्थ केवल जीव-हिंसासे विरतिमात्र है। उनकी अहिंसा अत्यन्त व्यापक है जो शब्द-प्रतीकके रूपमें जीवन और जगतके प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती है। उनकी अहिंसाका यह अर्थ है कि मनुष्यकी कामनाओं और वासनाओंका विसर्जन क्रमशः होता चले और मानव अहम्का यथासंभव विराटमें, जगत-का इनमें लय करते जानेमें समर्थ हो। अहम् लयको मनुष्यका प्रथम पग यही है कि वह एकमात्र अपने सुखोपमान और अपने स्वार्थकी कल्पनासे ऊँचा उठे और दूसरेके सुख उसकी सुविधा तथा उसके अधिकारका ध्यान रखनेकी चेष्टा करे। अपनी कामनाओंके संयम और त्यागमें ही परकी चिन्ता संभव है और परकी चिन्ताही अहमत्वके विघटनकी ओर पहला कदम है।

कामनाएँ अहम् की प्रबलता और उसके केन्द्रीकरणका ही परिणाम है। मानवकी स्वार्थ-वृत्ति जैसे-जैसे कम होगी वैसे-वैसे उसका परार्थ जागरित होगा और वह दूसरेकी दुख-सुख तथा अधिकार सुविधाका अधिकाधिक पोषण करता चलेगा। जिस क्षण इस मानव-वृत्तिका उदय होगा उसी समय मनुष्यद्वारा मनुष्यका पीड़न और शोषण, शासन और निर्दलन रुक सकेगा। यह सब उपसर्ग हैं अहम्, पूजा और कामना आदिके। जबतक

मनुष्यमें अहम्, पूजा और कामनावाद ही सत्यके रूपमें प्रतिष्ठित रहेगा तबतक उसकी हिंसा-वृत्ति जागरित रहेगी और उस दुष्चक्रसे ग्रस्त जीवन, समाज और जगत अपने ही द्वेष और अपनी ही हिंसासे भस्म होता जायगा। आज यही इस आधुनिक संस्कारका आधार हो गया है, और इसी कारण विश्वका विनाश होता दिखायी दे रहा है। बापू कहते हैं कि वे सारे भाव और दृष्टिकोण जो मनुष्यके अहम्को जागृत करे उसकी कामनाओंकी अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसे स्वार्थकी पूजामें रत करे और उसीमें जीवनकी प्रयोजनता स्वीकार करनेके लिए अग्रसर करें तथा हिंसाका आश्रय ग्रहण करके इस प्रयोजनताकी पूर्तिका पथ-प्रशस्त करे और उसके द्वारा शोषण, दासता तथा पीड़नको स्थायी कर दे। हिंसात्मक और पाशवी हैं जिसका निराकरण आवश्यक है। इन्हीं आधारोंपर बनी व्यवस्था समाज और संस्कृति, हिंसा और पशुतापर ही अवलम्बित समझी जानी चाहिये। बापू इसका निराकरण करके अहिंसाको नवजगतकी रचनाका आधार बनाना मानवताके कल्याणहीका एकमात्र उपाय समझते हैं। वे समझते हैं कि मनुष्यकी उज्ज्वल वृत्तियोंका उन्नयन करके जिस मनुष्यका संस्कार किया जायगा और उसके द्वारा जिस संस्कृति और व्यवस्थाका निर्माण होगा वही मानवताके लिये शिव हो सकेगी। गांधीवाद उसी अहिंसाके क्रमिक विकासकी पद्धति है जो उसीके आधारपर नवजगत और नव-समाज तथा जीवनकी रचनाके लिए महान् प्रयोगके रूपमें प्रस्तुत होती है। इस नयी दृष्टिको लेकर गांधीजी जगतके सांस्कृतिक आधार और सांस्कृतिक धाराकी आधुनिक दिशाको उलट देना चाहते हैं। वह अहम्के सुखवाद तथा ऐहिक भोगोंको ही सत्य मान लेनेके स्थानपर उस उज्ज्वल और भावमय

अंशोंको उद्दीप्त करना चाहते हैं जो दूसरेके प्रति अपने कर्त्तव्यके पालन तथा प्राणिमात्रके प्रति प्रेममें जीवनके चरम उत्कर्ष तथा जगतके कल्याणका रहस्य देखता है। बापू इसी प्रकार पशुवादके स्थानपर मानववादकी प्रतिष्ठा करना चाहता है।

यूरोपके विचार सम्प्रति अपनी दुनियासे त्रस्त और उसके परिवर्तनके लिए सचेष्ट हैं। वे अनुभव कर रहे हैं कि उनकी संस्कृतिमें आज कहीं-न-कहीं भारी दोष है जो सब कुछ रहते हुए भी जगतको विनाशकी ओर लिए चली जा रही है। हम उनका आवाहन करते हैं कि वे उस व्यक्तिके विचारोंकी ओर देखें। क्या बापू उस नई दिशाका ही सङ्केत नहीं है जिसकी ओर अभिगमन करनेमें ही मानवताका कल्याण है। नये विचार, नयी दृष्टि, नये आधार, नयी दिशा और नये आदर्शको भ्रान्त और निरुपाय जगतके सम्मुख रखनेमें बापू सफल हुए हैं। यह हमारा विश्वास है। अब जगत हठ और दुराग्रह छोड़कर इस व्यक्तिकी समीक्षा करे और देखे कि आधुनिक भौतिकवादके साथ-साथ उसके नैतिक और जीवनवादका समन्वय ही क्या संसारके उद्धारका एकमात्र मार्ग नहीं है।

आधुनिक विश्व और बापू

मानव-समाजके सम्मुख जटिल और कठोर समस्याओंका उपस्थित होना इतिहासके लिए और स्वयम् मनुष्यके लिए कोई नयी घटना नहीं है। अतीतके किसी अति सुदूर युगमें जबसे किसी एक प्राणीने पशुताके पथसे विरत होकर मानवताकी ओर अपना पग बढ़ाया तबसे लेकर आजतक सहस्राब्दियाँ बीत गयीं। आदि-मानव और वन्य-मानवसे लेकर बीसवीं सदीके मनुष्य तककी लम्बी विकासयात्रामें न जाने कितनी बार मानव-समाजने कठोर और गंभीर समस्याओंका सामना किया है। धरित्रीके अंकमें मनुष्यका अवतरण और उसका विकास विशुद्ध शून्यतामें नहीं हुआ है। मनुष्य प्रकट हुआ स्थूल शरीरके रूपमें, ठोस धरतीके ऊपर और अपनी समस्त आन्तरिक प्रवृत्तियों और बाह्य आवश्यकताओंको लेकर। जीवनके उदयके साथ-साथ और विकासकी ओर उसके उन्मुख होते ही उसकी अनेक समस्याएँ भी उसके साथ लगी आयी हैं। उसे जीवन-संघर्ष करना था, अपने अस्तित्वकी रक्षा करनी थी, अपनेसे बलशीलोंका सामना करना था और अपने पेट भरनेकी व्यवस्था करनी थी। उसे प्राकृतिक वायुमंडलके अनुकूल बनना था। समय-समयपर परिवर्तित होनेवाले ऋतुओंके वैषम्यसे अपना बचाव करना था और प्रजननकी नैसर्गिक कामना पूरी करनी थी। आरंभसे लेकर आजतक ये प्रश्न

और ये समस्याएँ उसके सामने निरंतर रूपसे उपस्थित रही हैं। जैसे-जैसे जीवनका विस्तार बढ़ता गया, परिस्थितियाँ बदलती गयीं, प्रवृत्तियाँ विकसित और परिमार्जित होती गयीं वैसे-वैसे नयी आवश्यकताएँ सामने आती गयीं और नयी-नयी समस्याओं को जन्म देती गयीं। मनुष्यकी प्रतिभा जीवनका पथ प्रशस्त करने और विकासकी यात्राकी गतिको निर्विघ्न तथा अकुण्ठित बनाये रखनेके लिए इन समस्याओंको सुलझाते रहनेकी चेष्टा निरंतर रूपसे करती रही है। इसी प्रकार सामाजिक जीवनका प्रवाह सहस्राब्दियोंसे बहता हुआ, इतिहासका निर्माण करता हुआ, संस्कृतियोंको जन्म प्रदान करता हुआ और समय-समयपर आवश्यकतानुसार उन्हें ढहाता और नयेका निर्माण करता हुआ आजतक चला आया है। हम देखते हैं कि आज पुनः मानव-समाजके इतिहासमें एक ऐसाही क्षण उपस्थित हो गया है। दुनियाका एक स्वरूप, जो गत कई शतियोंसे विकसित होता चला आया है, जिसने तत्कालीन परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार नये विचारोंका प्रजनन किया, नये आदर्शोंकी स्थापना की, व्यवहारका नया मार्ग बनाया और युगकी समस्याओंको सुलझाते हुए नयी व्यवस्थाओं की प्रतिष्ठा की, वही दुनिया आज जैसे निरुपयोगी, निर्जीव और नष्ट हुई दिखाई दे रही है। मनुष्य-की विमल रचनात्मक बुद्धिने, उसकी जिज्ञासा और सत्यानु-संधान की प्रवृत्तिने जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों, विचारों और आविष्कारोंको जन्म प्रदान किया उसने कुछ शताब्दि पूर्व एक नयी दुनियाकी रचनाकी बुनियाद डाल दी। यह युग ऐसा था जिसमें मनुष्यकी बुद्धिने अपनी प्रखरता सिद्ध की, प्रकांड कल्पना-शीलता प्रदर्शित की और अभूतपूर्व शक्तिसम्पन्नता दर्शायी। उसकी प्रतिभाने गूढ़ रहस्योंका उद्घाटन किया और सृष्टिके सूक्ष्म तत्वों-

। अनुसंधान और साक्षात्कार कर डाला। मनुष्यकी उसी प्रति-
ने नये जगतका निर्माण करनेमें भी प्रशंसनीय सक्रियता दिख-
यी। गत कुछ शतियोंके इतिहासपर आप दृष्टिपात करें और
प देखेंगे कि इस युगमें मानवबुद्धिने जीवन और जगतके लिए
क्ति और समाजके लिए ऊँचेसे ऊँचे आदर्शोंका प्रतिपादन किया
र कल्पनाकी उड़ानमें जहाँ तक ऊँचे जाना उसके लिए संभव
। वह गयी। इन आदर्शोंके प्रकाशमें उसने महान राजनीतिक,
माजिक, आर्थिक, वैधानिक तथा नैतिक विधि-विधानों और
वस्थाओंको जन्म दे डाला। ऐसा प्रतीत हुआ कि मनुष्यता
व्र गतिसे अनन्त विकास पथपर अग्रसर होती हुई बहुत बड़ी
जिल तय कर चुकी है। मनुष्यके हृदयमें भी अपने भविष्यके
म्बन्धमें दृढ़ आस्था उत्पन्न हो गयी। उसे विश्वास हो गया कि
ह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य दुःख और दीनतासे, अभाव
ौर अधीनतासे, रोग और रोदनसे सर्वथा मुक्त होकर सुखी,
म्पन्न, स्वाधीन, सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित जीवन यापन करनेमें
मर्थ होगा। वह जगत् जिसका निर्माण विज्ञान और यंत्रने
कया, उन्नीसवीं शतीके अन्तिम भागमें अपनी उन्नतिके चरम
बन्दुपर पहुँच गया।

विज्ञानने मनुष्यके जीवन और उसके समाजके मूल तकका
गलोड़न तथा परिवर्तन कर डाला। सामाजिक जीवनके प्रत्येक
त्रमें उसने अकल्पित परिवर्तन किया। सारा आर्थिक संगठन
यी भित्तिपर प्रतिष्ठित हुआ, सारे सामाजिक जीवनका ढाँचा
दल गया और राजनीतिक क्षेत्रमें सत्ता-सम्बन्धी सारी कल्पना
लट-पलट गयी। यंत्रके द्वारा पदार्थोंके उत्पादनके प्रकारमें जो
महान क्रांतिकारी परिवर्तन हुए उन्होंने जगतके स्वरूपको ही
दल दिया। मनुष्यकी दृष्टि, कल्पना और आदर्श तथा नैतिक

अभावका भयावना नर्तन आधुनिक विश्वकी सबसे बड़ी विभीषिका रही। विज्ञानने धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक असहिष्णुता और विश्वासकी जड़ अवश्य ही हिला दी। उसने ईश्वर तकको अप्रतिष्ठित कर डाला। पर क्या जिस बुद्धिवादकी दुहाई दी गयी उसीका भयावना दुरुपयोग नहीं किया गया? मानव-समाजके इतिहासमें एक युग था जब धर्मके नामपर मनुष्यने मनुष्यका रक्त पान करनेका पाप किया। पर धर्मको पदच्युत करके जिन नये देवोंकी प्राण-प्रतिष्ठा की गयी उन्होंने क्या जगतका संहार नहीं कर डाला? राष्ट्रवाद, जातिगत श्रेष्ठता, वर्गभेद और रंग-भेदका प्रचंड अट्टहास किस धार्मिक उन्मादसे कम था? देशप्रेम और राष्ट्रप्रेमके नामपर मनुष्यकी भावनाओंसे अनुचित लाभ उठाकर पृथ्वीकी छातीपर पशुता और बर्बरताका नग्न तांडव क्या इसी युगकी घटना नहीं है? एक ओर मानव-समता, पारस्परिक सहयोग, मनुष्यकी आर्थिक स्वतंत्रता और राजनीतिक मुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और विश्व व्यवस्थाके ढोंग रचे गये और दूसरी ओर जगतके कोटि-कोटि नर-नारियोंका दोहन और दलन, हनन और पीड़न किया गया। मनुष्यके नैसर्गिक अधिकारोंकी घोषणाएँ बार-बार की गयीं और बार-बार उन्हीं घोषणाओंके आधारपर व्यवस्थाओंका निर्माण किया गया। पर जिस पश्चिमने यह किया उसीने जगतके जनसमाजको अधिकार-वंचित करनेमें अपनी ही व्यवस्थाओंका दुरुपयोग किया। पारस्परिक सहयोग और सद्भावके स्थानपर पारस्परिक विद्वेष, भय और द्रोह फैलाया गया। ऐसा ज्ञात हुआ कि मनुष्यके आदर्श और उसके व्यवहारमें महान् अन्तर है। मानव-समाज संस्कृतियोंको जन्म देकर स्वयं सुसंस्कृत न हो सका। सृष्टिके मूल और गूढ़तम रहस्योंकी समस्या सुलझाते हुए भी वह अपने अन्तर और अपने स्वभावकी

समस्या न सुलझा सका। समस्त प्रकृति भले ही उसकी चरण-सेविका बनी हो और मनुष्यने वामनकी भाँति अपने पैरोंसे त्रैलोक्यको भी नाप लिया हो पर स्वयं अपनेको वह विजय न कर सका। परिणाम स्वरूप दो-दो महायुद्धोंकी आगमें धरित्री जलकर राख हो गयी। ऐसा ज्ञात होता है कि मनुष्यकी बुद्धिने विभूतियाँ तो प्राप्त कीं पर विभूतिसे उत्पन्न समस्याओंको सुलझानेकी शक्ति और योग्यता उसमें न रही। कदाचित वह अपने ऐश्वर्य और अपने बलको देखकर स्वयं ही भयभीत और विमूढ़ हो गया।

गत प्रथम महायुद्धके बाद एक बार विश्वके सामने महान सांस्कृतिक प्रश्न उपस्थित हुआ। अपने विकास और अपने वैभवको देखकर अपने भविष्यके सम्बन्धमें जिस मानव-समाजको गहरी आस्था उत्पन्न हो गयी थी वही गत प्रथम महायुद्ध की विनाश-लीला देखकर चकित और सशंक हो उठा। उसके सम्मुख यह महान प्रश्न उपस्थित हुआ कि अन्ततः वह कौनसा विकार और पाप है जो उसकी संस्कृति, उसकी विभूति और उसकी प्रगतिको नष्ट किये दे रहा है? उसने सोचा कि मानव-संस्कृतिके शुभ्र और मोहक क्षेत्रमें मानव-बर्बरताकी यह भयावनी धारा कहाँसे आयी? उसने कदाचित अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक गतिको पशुताकी ओर प्रत्यावर्तित होनेसे रोकनेकी चेष्टा भी की पर क्या उसकी दुर्बलताने उसकी इस चेष्टाको भी चौपट नहीं कर डाला? इतिहास इस बातका साक्षी है कि सांस्कृतिक और सामाजिक संकट उसी समय उपस्थित होते हैं जब संस्कृति द्वारा प्रदत्त वैभवमें समाजको सामूहिक और समान रूपसे भागी बनने नहीं दिया जाता। सांस्कृतिक धाराकी प्रगति उसी समय रुकती है और फिर उसका प्रवाह प्रतिगामी हो जाता है। पर

समाजको समान रूपसे वैभवका उपभोग करनेसे रोकनेवाली प्रवृत्ति मनुष्यकी उस पशुभावनाकी द्योतिका है जो स्वार्थ और अहंकार, दंभ तथा असंहिष्णुतामें व्यक्त होती है। समाजके उन वर्गोंका, जो उसके सूत्रधार हैं अपनी इन प्रवृत्तियोंसे संस्कृतिको असंस्कृत करनेकी चेष्टा करना वह विभीषिका है जो विकास-पथपर मानव-समाजकी प्रगतिके रथको आगे बढ़नेसे रोक देती है। कदाचित यही दुर्बलता प्रथम महायुद्धका कारण हुई और संभवतः इसी दुर्बलताने उस प्रयासको विनष्ट कर डाला जो जगतको मनुष्यकी पशुतासे मुक्त कर देनेके लिए युद्धोपरांत आरंभ किया गया था। पुराने राष्ट्रसंघ (लीग-आफ-नेशन्स) की स्थापना यदि विश्वशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके आदर्शोंकी भित्तिपर की गयी तो वह यंत्र बना कुचक्र, स्वार्थपरता, अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति और दंभ, अहंकार तथा मदमत्तता का। भय, प्रतिशोध तथा दुर्नीतिकी भावनाओंसे ओतप्रोत विश्वके सूत्रधारोंने राष्ट्रसंघके द्वारा उस विषका सर्जन किया जो 'नाजीवाद' और 'फासिटीवाद'के रूपमें व्यक्त हुआ। 'नाजीवाद' या 'फासिटीवाद' वास्तवमें प्रहार था मनुष्यकी पशुताका जो समस्त संस्कृतिको निःशेष कर देने की भावनासे किया गया था। वह भयावनी प्रतिक्रिया थी उस कुचेष्टाकी जो विजयी राष्ट्र कर रहे थे। जो हो रहा था उसका परिणाम द्वितीय महायुद्धके सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता था। आश्चर्य है कि जगत की व्यवस्था तथा उसका संचालन करनेवाले इतना भी न समझ सके कि उनके पापोंके फलस्वरूप जो नयी शक्ति उत्पन्न हो रही है वह वास्तवमें भयावनी कृत्या है जो न केवल भविष्यको किन्तु वर्तमानको भी अपने जबड़ोंमें रखकर चबा डालनेके लिए उद्यत हुई है। वह न केवल प्रगति और परिवर्तनका शत्रु था प्रत्युत उन लोगोंका भी शत्रु

था जो जगतके सारे ऐश्वर्य और अधिकारका भोग कर रहे थे। 'नाजीवाद' आजकी दुनियामें जो कुछ है उन सबका शत्रु है और मित्र था केवल बर्बरताका जिसे एक बार धरतीके वक्षपर पुनः प्रतिष्ठित करके अपनी प्रतिहिंसाकी भावनाको तृप्त करनेकी चेष्टामें संलग्न था। वह शत्रु था उस परंपरा और प्रवृत्तिका जिसकी स्थापना और प्रदर्शन फ्रांसकी राज्यक्रान्तिसे, अमेरिकन स्वतंत्रताके महायुद्धसे तथा इंग्लैंडके मैगनाकार्टासे लेकर अक्टूबरकी बोल्शेविक क्रांतितकमें हुआ था। वह शत्रु था उन विश्वासों और भावोंका जिनका सूत्रपात्र यूरपके इतिहासमें "पुनर्जागरण" (रेनेसाँ) के तथा 'सुधार' (रिफोरमेशन) और 'बुद्धिवाद'के युगने किया था। 'नाजीवाद' इन सबका सत्यानाश कर डालनेकी भावनासे अग्रसर हुआ था।

पर यह सब उनकी दृष्टिमें न आया जो जगतके सूत्रधार बने हुए थे। स्वार्थांध होकर समस्त ऐश्वर्यको स्वयम् वर्ग सम्पत्ति बनाये रखनेकी चेष्टामें वे इतने लीन थे कि इस विभीपिकाको तबतक प्रश्रय देते गये जबतक वह उन्हेंही खा जानेके लिए उन्हींपर दौड़ न पड़ी। इस मूढ़ताका परिणाम द्वितीय महायुद्धके रूपमें व्यक्त हुआ। पश्चिमी संस्कृतिकी छातीपर महाकालका प्रलयंकर तांडव आरंभ होगया और मेदिनी मनुष्यकी दानवताकी आगमें भस्म होगयी। आज धरातल विक्षत, विमर्दित और रक्तलिप्त सामने पड़ा दिखाई दे रहा है। हम देखते हैं कि जो पराजित हुए वे धरतीसे मिट गये पर जो विजयी हुए वे भी विजयका सुख प्राप्त करनेमें सर्वथा असमर्थ हो रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि यह युद्ध पाश्चात्य संस्कृतिकी चिताके रूपमें सामने आया। वह दुनिया, जिसका निर्माण यूरपने शताब्दियोंसे किया, मरी हुई दिखाई दे रही है। क्या

वह सांस्कृतिक अभिनय जिसे मानव-समाजके ऐतिहासिक रंगमंचपर यूरप कर रहा था समाप्त हुआ नहीं दिखाई दे रहा है? क्या वह प्रकाश जिसे लेकर यूरप अवनीके अंचलको आलोकित करनेकी चेष्टा कर रहा था मन्द नहीं हो गया है? पिछली कई शताब्दियोंमें जिस वैभव और ऐश्वर्य का संकलन यूरोपने किया था वह आज विचूर्ण हुआ दिखाई दे रहा है। यूरपकी सुन्दरी नगरियाँ स्मशान बनी हुई हैं, सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न है, व्यवस्थाएँ धूलमें मिली हुई हैं, धरिणी नग्न हो चुकी है, मानवता सिसकती नजर आ रही है और मानव-समाज सब कुछ खोकर दरिद्र, अकिंचन और दयनीय स्थितिमें कलपता दिखाई दे रहा है। ऐसा मालूम होता है कि बेन्थम और रूसो, मेजनी और लिंकनकी दुनिया गयी और उसी प्रकार चली गयी जिस प्रकार यूनान और रोम-की दुनिया चली गयी थी। रेनिसाँ और रिफरमेशनसे जो युग उत्पन्न हुआ था वह कदाचित गया और अनन्तमें लीन होगया।

मैं जो कह रहा हूँ वह निराशासे आप्लावित होकर नहीं कह रहा हूँ। कह रहा हूँ इसलिए कि यही कठोर वास्तविकता है जो सामने उपस्थित है और आखें फाड़-फाड़कर मानव-समाजकी ओर देख रही हैं। द्वितीय महायुद्धके बाद भी मानव-समाजकी गति कुछ भिन्न हुई दिखाई नहीं देती। आज भी जगतमें जो हो रहा है वह मनुष्यको विनाशकी ओर प्रेरित करनेवालाही दिखाई देता है। पूँजीवाद और साम्राज्यवादको नये रूपमें जगतकी छातीपर आसीन करनेकी चेष्टा जारी है। विश्व महान राष्ट्रोंकी स्वार्थपरताका लीलाक्षेत्र बनता जा रहा है। राष्ट्रीय गुटबंदियोंका बाजार गरम है। जगतकी मंडियोंको

हथियाने, तेल, कोयला तथा लोहाके समान प्रकृति-प्रदत्त पदा
के क्षेत्रोंको हड़पने, दोहनके साधन ढूँढ़ने, अपनी-अपनी वि
सीमाओंमें अपना आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व बनाने
घोर कुचेष्टा स्पष्ट है। आहत और खूनसे सनी हुई पृथ्वी
अंगोंको चोंथ-चोंथकर खाजानेका प्रयास जारी है। वैज्ञानि
विभूतिका उपयोग संहार-साधनोंको प्रखर और भयाव
बनानेमें पहलेके समान ही किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसं
के रूपमें जो प्रयास आरंभ हुआ उसकी गति कुछ वैसे ही हो
दिखाई दे रही है जो पुराने राष्ट्रसंघकी हुई थी। तृतीय मह
युद्धकी ध्वनि उठने और क्षितिजसे टकराने लगी है। य
स्थिति है जो आज मानव-समाजके समुख निर्निमेष रूपसे दे
रही है। तात्पर्य यह कि गत दो महायुद्धोंके बाद मानव-समाज
की समस्याओंको सुलझानेके लिए जो प्रयास हुए उनकी ग
कुछ विचित्र ही हुई दिखाई दे रही है। अवस्था यह है
समस्याएँ सम्प्रति और अधिक जटिल तथा गंभीर होक
उपस्थित हुई हैं। संस्कृतिके हृदयमें ही वह अन्तर्दाह उत्प
हुआ दिखाई देता है जो उसीके हननका कारण बनता
रहा है। वर्तमान स्थितिमें कलका संसार नष्ट दिखाई दे र
है। आजका जगत विक्षत और विचूर्ण है। अब कलके संसार
निर्माणका प्रश्न प्रस्तुत है। पर निर्माण किन आधारोंप
किन तत्वोंको लेकर करना श्रेयस्कर होगा जिसमें मनु
अपने भविष्यको सुरक्षित रखनेमें समर्थ हो सके। य
तो निर्विवाद है कि मनुष्यता ऐसे समाजकी रचनाकी अपेक्षा क
रही है जो हिंसा और पशुतासे मुक्त हो, जिसमें वर्ग-भेद औ
वर्ग शोषण न हो, जिसमें मनुष्य व्यक्तिगत तथा ममवेत रूप
सांस्कृतिक विभूतिके उपभोगका अधिकार तथा अवसर अपन

योग्यताके अनुसार समान रूपसे प्राप्त कर सके। मानव-समाज सांगोपांग स्वतंत्र, सुखी तथा निर्भय होकर जीवन पावन कर सके। यही है लक्ष्य जो सबको अपेक्षित है और जिसके प्रकाश-में भावी व्यवस्थाका निर्माण अपेक्षित है। प्रश्न यह है कि इस लक्ष्यकी पूर्ति कैसे की जाय ? वह कौन-सा मार्ग है और कौन-सी पद्धति है जिसका अवलंबन करके वांछनीय स्थितिकी रचना की जा सकती है। मैंने जगतके निर्माणका व्यापक प्रश्न प्रस्तुत किया क्योंकि मैं समझता हूँ कि भारत विश्वकाही एक अंग है और विश्वकी समस्यासे भारतकी समस्या भिन्न नहीं है। अंगकी पुष्टिसे शरीर पुष्ट होता है और शरीरकी पुष्टिसे अंग पुष्ट होता है। भारत विश्वके प्रभावसे प्रभावित होगा और विश्वके भविष्य-का भारतद्वारा प्रभावित होना अनिवार्य है। इन दोनोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अतः मैंने सारे जगतकी समस्याको ही अपने विचारकी आधार-पीठिका बनाया। हमारे सामने आज केवल भारतकी नव-रचनाका प्रश्न नहीं है प्रत्युत समस्त जगतके निर्माणका भी प्रश्न उपस्थित है। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रको व्यापक रूपसे अपने तथा मानव समाजके निर्माणकी भित्तिको ढूँढ़ निकालना है। यदि मनुष्य उसी पथ पर बढ़ता चला गया जिसपर गत कतिपय दशकोंसे जा रहा है तो निःसन्देह इसका भविष्य भी खतरेमें है। क्या यह जाति अब उस बिन्दुपर पहुँच गयी है जहाँ विनष्ट हो जानेके सिवा उसके लिए कोई दूसरी गति नहीं रह गयी है ? प्राणी-जगतकी विकास-यात्रामें न जाने कितनी जन्तु जातियाँ उत्पन्न हुई और विलीन हो गयीं। उनके अवशेष महोदधियोंके गर्भमें अथवा प्रस्तर खंडोंके नीचे दबे हुए हमें आज भी किसी कालमें रहे उनके अस्तित्वकी सूचना दे देते हैं। क्या यह भूतल मानव-

जातिका अन्त भी शीघ्र देखनेवाला है ? पृथ्वीका अंक न जाने कितनी पुरातन संस्कृतियोंका समाधि-स्थल बन चुका है। क्या एक और संस्कृतिका शव उसके उदरमें स्थान पानेवाला है ? यदि नहीं तो फिर मानव-समाजकी भावी व्यवस्थाके सम्बन्धमें विचार करना ही पड़ेगा और उस स्थितिसे जगतका उद्धार करनेका पथ ढूँढ़ ही निकालना पड़ेगा जिसमें आजका संसार पहुँच गया है।

जिन कारणोंसे संसार आजकी स्थितिमें पहुँचा है, जिन त्रुटियोंके फलस्वरूप मानव-समाजकी यह दशा हुई है, जिन भूलोंका परिणाम आज हम भोग रहे हैं उन सबको ढूँढ़ निकालना होगा, उनका परिहार करना होगा और उस आधार की प्रतिष्ठा करनी होगी जिसपर नवसमाज की रचना करनेसे मानवताके कल्याण की आशा की जा सकती है। मनुष्यको इन प्रश्नोंका उत्तर ढूँढ़ निकालना होगा अथवा अपने समाजके भविष्यकी उज्ज्वलतामें आस्था खो देनी होगी। यदि मनुष्य धरित्रीको अपने योग्य नहीं बना सकता, यदि अपनी बर्बरताका उन्मूलन करके मानवताको प्रतिष्ठित नहीं कर सकता और यदि पृथ्वीको हिंसा और रक्तपातसे तथा मानव-समाजको मनुष्यकी दासता, उसके दलन और उसके दोहनसे उबार नहीं सकता तो मानव-समाजकी रक्षा भी नहीं हो सकती। जगतके उस व्यापक जन-समाजको, जिसके हृदयमें मानवताकी प्रकाशमयी रश्मिका आलोक अब भी बाकी है, तथा जगतकी उन प्रगतिशील प्रवृत्तियोंको जो अब भी मनुष्यताके भविष्यमें विश्वास रखती हैं इन प्रश्नोंके उत्तरको उपस्थित करना होगा और उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करनेकी चेष्टा करनी होगी। मैं जानता हूँ कि प्रथम महायुद्धके बाद इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए लेनिनके नेतृत्व

रूसने 'मार्क्सवाद'का उज्ज्वल प्रयोग किया। 'मार्क्सवाद' जगत-के सामने एक नयी दृष्टि, एक नया आदर्श, एक नया पथ और एक नयी योजना लेकर उपस्थित होता है। वह पृथ्वीपर ऐसे समाजकी स्थापनाका आकांक्षी है जो वर्गहीन हो और जिसमें मनुष्यद्वारा मनुष्यका दोहन, दलन और दासत्व न रह जाय। वह कल्पना करता है ऐसे समाजकी जिसमें समाज होगा वर्गहीन, शासनसत्ता होगी लुप्त और मनुष्य होगा स्वतंत्र। वह कल्पना करता है कि व्यक्ति समाजमें अपने व्यक्तित्वको इस प्रकार लय कर देगा कि व्यक्ति और समाजका भेद ही मिट जायगा। रूसके इस प्रयोगने मानव-संस्कृतिके इतिहासमें एक नये अध्यायकी रचना की है। स्वयं रूसमें मार्क्सवादी प्रयोग, नये सामाजिक, आर्थिकने राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवनको तो जन्म दिया ही उसने जगतके करोड़ों नरनारियों को आमूल प्रभावित किया है। आज विश्वका दलित, शोपित और विताड़ित जन-समाज रूसको प्रकाशके रूपमें पाता है और उससे आशा तथा स्फूर्ति प्राप्त करता है। पर जहाँ यह सब हुआ वहीं आज यह भी विचारणीय है कि रूस क्या उस लक्ष्यकी सिद्धिमें सफल हुआ जिसकी प्रतिष्ठा मार्क्सवाद करता है और जिसकी प्रेरणा लेकर अक्टूबरकी महती क्रांति हुई थी? जिस प्रयोगकी सफलताके लिए रूसकी बोल्शेविक पार्टीने असीम बलिदान किया और बादमें रूसकी बोल्शेविक सरकारने लाखों रूसियोंके रक्तसे तर्पण किया वह क्या ऐसे वर्गहीन समाजकी स्थापनामें समर्थ हुआ जिसमें जन-समाज सर्वथा मुक्त हो, अपने प्रकृत मानवी अधिकारोंका उपभोग कर रहा हो और शासनसत्ता विघटित तथा लुप्त होती दिखाई दे रही हो? मेरी दृष्टिमें तो इन प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट है। जो कोई भी

रूसके गत पचीस वर्षोंके इतिहासपर दृष्टिपात करेगा और उसकी स्थिति तथा व्यवस्थाकी समीक्षा करेगा, वह उक्त प्रश्नोंका उत्तर पा जायगा। मैं तो रूसमें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवनका भयावना केन्द्रीकरण हुआ पाता हूँ। क्या यह सत्य नहीं है कि रूसमें वह प्रचंड, अपरिमित, शक्तिशालिनी केन्द्रीभूत शासन-सत्ता जन-समाजके मस्तकपर उपविष्ट है जो किसी भी निरंकुश अधिनायकवादिनी सरकारसे कम नहीं है? वह सत्ता प्रकांड केन्द्रीभूत हिंसा और शक्तिपर आश्रित है। जन-समाजका अंग-प्रत्यंग केन्द्रीभूत सत्ताके चरणोंके नीचे दबा हुआ है। फिर क्या यह आशा की जा सकती है कि यह स्थिति उस समाजकी स्थापनाकी ओर अग्रसर होगी जो वर्गहीन होगा और जिसमें शासन-शक्ति विघटित तथा विलुप्त हुई दिखाई देगी? अवश्यही मार्क्सवादका आदर्श मोहक, आकर्षक, स्पृहणीय और मानवीय है। पर क्या उस लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए उसने जो पथ पकड़ा वह उसे उसके निकट ले जा सका? मनुष्य राजनीतिक और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिसे स्वतंत्रता और समताका आकांक्षी होता है। वह ऐसी व्यवस्था चाहता है जिसमें न वर्ग-प्रभुता हो, न निरंकुश अधिकार-सत्ता, और न समाज तथा व्यक्तिके अधिकारोंका अपहरण। आज रूसको कहाँ यह स्थिति प्राप्त है? यदि मनुष्यको उसने आर्थिक सुरक्षा प्रदान की है तो उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता मुट्ठीभर प्रभुओंके हाथमें है। वह उसी अधिकारको प्राप्त कर सकती है और उसी सम्पत्तिका उपभोग कर सकती है जो मस्तकपर बैठी हुई निरंकुश शक्तिसे मिल जाय। हिंसा और शक्तिके द्वारा मानवीय आदर्शकी प्राप्तिके लिए चेष्टा की गयी। उज्ज्वल और पुनीत लक्ष्यकी सिद्धिके लिए वर्बरताका पथ पकड़ा गया। फलतः रूस उस लक्ष्यमें असफल

दिखाई दे रहा है जिसे लेकर उसने अपना महाप्रयोग किया था। हमने देखा कि रूसमें पूँजीवादकी जड़ खोद दी गयी पर न वर्गहीन समाज स्थापित हुआ और न रूस निरंकुशतासे त्राण पा सका। गत कुछ वर्षोंमें रूसी साम्राज्यवादके स्वरूपका दर्शन करनेका अवसर भी हमें प्राप्त हुआ।

मैं नहीं जानता कि मेरे ये विचार कितनोंको कटु लगेंगे पर मैं इतना अवश्य अनुभव करता हूँ कि आज वह क्षण उपस्थित है जब मानव-समाजको केवल आदर्श ही नहीं प्रत्युत लक्ष्यतक पहुँचनेके पथको भी तौलना होगा। मेरी ऐसी धारणा है कि लक्ष्य और उसका प्राप्त करनेके साधन तथा उसके पथमें भयावना वैषम्य मनुष्यकी असफलताका एक मुख्य कारण रहा है। आज वह क्षण आगया है जब दोनोंके असामंजस्यको दूर करनेकी चेष्टा करनी ही होगी। यह संभव ही नहीं है कि पशुता और वर्बरताका, हिंसा और रक्तका, शस्त्र और शक्तिका आश्रय लेकर आप ऐसे लक्ष्यकी संसिद्धि कर सकें जो मानवीय और उज्ज्वल हो तथा जीवनको देवत्वकी ओर प्रेरित कर सके। मानवकी अंतरभूत भावनाएँ मनुष्यकी सक्रियताका स्रोत हैं और वे भावनाएँ ही उसके वाह्यको भी प्रभावित करती हैं। महत्त्व है मनुष्यके प्रकृत रूपका। वह रूप यदि पशुतासे आच्छन्न है तो व्यवस्थाओं और विधानोंसे तथा जगतका कल्याण करनेमें समर्थ समस्त वैज्ञानिक साधनोंसे भी पशुता ही प्रवाहित होती दिखाई देगी। विधान और व्यवस्थाएँ निर्जीव हुआ करती हैं। उनका संचालन करनेवाली शक्ति तो स्वयम् मनुष्य ही है। यदि मनुष्य पाशव है तो उसकी सारी व्यवस्था और सारा विधान उसकी पशुतासे ही विपाक्त हो जायगा। ऐसी स्थितिमें बड़े-बड़े आदर्श और सिद्धान्त भी निर्जीव हो जाते हैं।

यदि आप विचारपूर्वक देखें तो मेरी उक्त धारणाको साधार पायेंगे। मैं तो यह देख रहा हूँ कि मानव-समाजका सारा इतिहास अकाट्य रूपसे हमारी इसी धारणाको पुष्ट कर रहा है। क्या यह सच नहीं है कि उज्जवल-से-उज्ज्वल व्यवस्थाएँ और पुनीत-से-पुनीत आदर्श मनुष्यके हाथोंमें पड़कर नष्ट हो गये क्योंकि उनका संचालन और उनकी सिद्धि करनेवाला मनुष्य स्वयम् अपनेको उतना ही ऊँचा न उठा सका और न उतने ही ऊँचे पथको ग्रहण कर सका। यही कारण है कि लोकतंत्र और समाजवाद, विश्वसंघ और शांति-सम्मेलन सभी अति सुन्दर आदर्शोंसे समाविष्ट होते हुए भी उस लक्ष्यकी सिद्धिमें समर्थ न हुए, जिन्हें सामने प्रतिष्ठित करके उनका प्रजनन किया गया था। मनुष्यकी पशुताने तो धर्म ऐसी प्रकाशमयी संस्थाको अधर्म और विनाशका हेतु बना डाला है। फलतः यदि यह धारणा साधारण सिद्ध होती है तो उसे ग्रहण करके हम किस परिणामपर पहुँचते हैं। हम अनिवार्यतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अबतक हमने सारी समस्याकी जड़में जो मौलिक रोग है उसका निदान नहीं किया। हम उपसर्गोंका उपचार करते रहे और उन्हींके शमनकी चेष्टामें संलग्न रहे। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जगतका परिवर्तन उसी समय संभव है जब मनुष्य परिवर्तित हो जाय क्योंकि परिवर्तनकी प्रक्रिया जड़ व्यवस्थाओंसे नहीं, चेतन मानवके द्वारा ही सम्पादित हो सकती है। मैं समझता हूँ कि यह नितांत भ्रांत धारणा है कि बड़े-बड़े आदर्शों और सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेसे अथवा व्यवस्थाओंका रेखांकन कर देने मात्रसे जगतका परिवर्तन हो जायगा। मैं सोचता हूँ कि आजके समाजको एक दूसरे कोणसे अपनी समस्याको हल करनेकी चेष्टा करनी होगी। उसे जगतकी परिस्थिति बदलनेकी चेष्टा करनेके बजाय मनुष्यके

ही परिवर्तित करनेका यत्न आरम्भ करना होगा। आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य मनुष्यके जीवनकी ही विवेचना करे और उसकी विचित्रतासे परिचित हो। आजतक समाजने कदाचित् मनुष्यको देखने और समझनेकी चेष्टा नहीं की। विज्ञानसे उद्-भूत भौतिकवादिनी सभ्यताने बलपूर्वक मानव-दृष्टि और बुद्धिको केवल जड़ और भौतिक तत्त्वोंतक ही परिमित कर दिया है। 'भूतों'की अन्ध उपासनामें संलग्न आधुनिक मानव 'भूत' ही बन गया और उसने उस अदृश्य चेतनकी उपेक्षा की जिसकी अभिव्यक्ति ही भौतिक प्रपञ्चके रूपमें मूर्त हुई। प्रकृतिने मानव-जीवनकी रचना कुछ विचित्र रूपसे की है। मनुष्य यदि भौतिक पिंड है तो भावमय प्राणी भी है। यदि उसमें पशुता है तो देवत्व भी है। यदि वह अशुभ प्रवृत्तियोंका दास है तो उसके हृदयस्थ वह शुभमयी धारा भी है जो उसका उज्ज्वल अंश है। कदाचित् यह आवश्यक है कि जगत् समाज और जीवनको मानवी बनानेके लिए मनुष्यकी उज्ज्वलता उज्जीवित की जाय। संसारको अधिक श्रेयस्कर, अधिक शुभमय, अधिक शिवमय और सुन्दर बनानेके लिए मनुष्यके उस भावात्मक अंशका उन्नयन किया जाय जो निसर्गतः सत्यकी ओर, शिवकी ओर और सौन्दर्यकी ओर उन्मुख है।

क्या यह कहना अनुचित होगा कि यूरोपकी संस्कृतिने मानव-जीवनके इस अंशकी गहरी उपेक्षा की जिसके फलस्वरूप आज सब कुछ होते हुए भी मनुष्य पशु ही बना हुआ है। उसकी स्वजात पशुत्वकी प्रवृत्ति उसका ही विनाश करती दिखाई दे रही है। प्रकृतिके ऊपर उसकी विजय उसके लिए विभीषिका और विज्ञानोद्भूत उसका वैभव उसके लिए अभिशाप बन गया है। यदि मेरी यह विवेचना सत्य है तो मैं समझता हूँ कि मानव-

समाजको आज एक ऐसे पथ और एक ऐसी पद्धतिकी आवश्यकता है जो मनुष्यके देवत्वका उद्बोधन कर सके, उसके शुभको जागृत कर सके और उसके उज्ज्वलांशका उद्दीपन कर सके। जगतके विचारक समाजको गम्भीरतापूर्वक ऐसे पथ और ऐसी पद्धतिका अनुसंधान करना होगा। मैं स्वयम् अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मानव-समाजके सम्मुख मनुष्यके सौभाग्यसे एक महापुरुष ऐसे पथ और ऐसी पद्धतिको उपस्थित कर रहा है जो हमारी इस आवश्यकताकी पूर्ति करता है। हम भारतीयोंका यह दोहरा सौभाग्य है कि वह महाप्राण व्यक्ति हमारी मातृभूमिकी गोदको ही सुशोभित कर रहा है। मेरा संकेत महात्मा गांधीकी ओर है जो आज महान लक्ष्यकी ओर उन्मुख हैं और जो महती क्रांतिका प्रवर्तन करनेके लिए अग्रसर हुए हैं। गांधी मानव-समाजको हिंसाके मार्गसे विरत करके अहिंसाकी ओर ले जाना चाहता है। वह आजकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाको; वह आधुनिक संस्कृतिकी धाराको, जीवनके प्रति आजके मनुष्यकी दृष्टिको बदल देनेके लिए सचेष्ट है। इस महती क्रांतिके चक्रका परिचालन उसके जीवनकी साधना है पर वह अपनी क्रांति-धाराको पाशवी और रक्तरंजिता बनाना नहीं चाहता। वह क्रांति चाहता है पर चाहता है कि वह क्रांति हो रक्तहीन, हत्या और हिंसासे विहीन, जघन्यता और पशुतासे मुक्त, मानुषी क्रांति हो जो मनुष्यके उज्ज्वलांशका उज्जीवन और उसके देवत्वका उन्नयन कर सके। यही है उसका पथ, प्रयास और प्रयोग।

गांधीजी एक नयी दिशाकी ओर, एक नये मार्ग और नये लक्ष्यकी ओर संकेत करते दिखाई दे रहे हैं। उनके विचार यूरपकी विचारधाराओंसे भिन्न हैं और उसके द्वारा निदर्शित

पथ जगतमें प्रचलित अन्य पथोंसे भिन्न हैं। मैं तो यह देख रहा हूँ कि आज सिवा गांधीके न कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति है और न उसके विचारोंके सिवा कोई दूसरी ऐसी विचारधारा है जो विश्वको वह दे रही हो जिससे वह वंचित है और जिसके अभावके कारण ही वह विपदग्रस्त है। गांधीजी मनुष्यकी उज्ज्वलतामें विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि जबतक मानवकी शुभमयी प्रवृत्तियोंका उद्बोधन न होगा तबतक मानव-पशुताका अन्त न होगा। वह यह भी विश्वास करते हैं कि मनुष्यकी मनुष्यताको जागृत करनेके लिए, मानवीय आदर्शकी सिद्धि और मानवीय लक्ष्यके भेदनके लिए मानवीय पथका *आश्रय ग्रहण करना ही एकमात्र मार्ग है जिसके बिना समाजका* कल्याण नहीं हो सकता। वे मानते हैं कि भावी जगत्‌का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जिसमें मनुष्यका उज्ज्वलांश उज्जीवित हो और उसकी राजनीति तथा अर्थनीति, उसकी विधि और व्यवस्था, उसके जीवनका सारा अंग और प्रत्यंग नैतिक भावोंसे आपन्न और प्रभावित हो। वे मानते हैं कि मनुष्यकी वे वृत्तियाँ जो सहयोग और समवेदना, सेवा और स्नेहकी ओर सहज ही उन्मुख हैं, जबतक जागृत नहीं होतीं तबतक समता, स्वतंत्रता, बंधुत्वके आधारपर समाजकी रचना असंभव है। उसकी दृष्टिमें वह लोकतंत्र अथवा वह समाजवाद न लोक-तंत्र है और न समाजवाद जो अहम्‌के सुखको जीवनका लक्ष्य समझे। वह व्यवस्था मानवीय नहीं जो सुखकी कल्पना सांसा-रिक भोगोंतक ही परिमित रखती है। वह सत्ता शुभमयी हो नहीं सकती जो अधिकार और शक्तिका केन्द्रीकरण करके वर्ग द्वारा वर्गके शोषण और शासनका मार्ग प्रशस्त करती हो। यही कारण है कि गांधीजी ऐसे समाजकी कल्पना करते हैं

जिसमें शक्ति और अधिकार विकेन्द्रित होकर जनमंडलमें वितरित हों। वे आर्थिक क्षेत्रमें जनसमूहकी स्वतंत्रताके आकांक्षी हैं और चाहते हैं कि समाज इतना स्वावलम्बी और स्ववश हो कि उसके जीवनमें राजसत्ताका हस्तक्षेप यथासम्भव हो ही न सके। इसी कारण वे उत्पादनकी विकेन्द्रीभूत प्रणालीके समर्थक हैं। क्योंकि उत्पादनकी प्रणाली जैसी होगी समाजका ढाँचा भी वैसा ही होगा। वे चाहते हैं कि व्यक्तिका व्यक्तित्व समष्टिमें लय हो जानेके लिए हो और समाज व्यक्तिको इस प्रकार सर्वाङ्ग और स्वांशमें विकसित होनेमें सहायता दे कि वह विराट्-में अपनेको उत्सर्ग कर देनेमें सफल हो। बापू यह मानते हैं कि सच्ची वर्ग-हीनता और सच्चा लोकतंत्र तभी सम्भव है जब मनुष्य मानवताके उच्च स्तरपर पहुँचा हुआ हो और मनुष्यका यह विकास मनुष्यका निर्माण करनेसे ही होगा। निर्माण इस प्रकार किया जाय कि मनुष्य अधिकारकी अपेक्षा कर्तव्यकी ओर अभिमुख हो क्योंकि कर्तव्यकी भावनामें अहम्का विसर्जन सन्निविष्ट है। जब व्यक्ति और समाजकी दृष्टि अधिकारकी ओरसे हटकर कर्तव्यपर स्थिर होगी तब प्रेम और विधान एक होंगे, श्रमका आधार होगा, कर्तव्य और पूँजीका आधार होगा उत्सर्ग। वह स्थिति होगी, जब मनुष्य बनेगा मनुष्य और धरती बनेगी उसके गौरवके अनुकूल।

भारतीय स्वतंत्रताके प्रश्नको लेकर जिस महामानवने मानवीय आदर्शकी सिद्धिके लिए मानवीय पथका निदर्शन किया है और उसमें इतिहासके लिए अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। उसके विचारोंपर दृष्टिपात करना, उनकी समीक्षा करना और उनकी उपयोगिता देखना पंडितोंका काम है। हम जगतके विचारकोंका ध्यान इस व्यक्तिके आदर्श और

उसकी साधना, उसके विचार और उसके प्रयोगकी ओर आकृष्ट करते हैं। वे देखें और सोचें कि क्या गांधीजी आज संसारको उसकी समस्याओंका एक मौलिक और अभिनव हल प्रदान नहीं कर रहे हैं? वे पश्चिमी भौतिकवादके साथ पूर्वी अध्यात्मवादका सुन्दर समन्वय क्या स्थापित नहीं कर रहे हैं? क्या वही एकमात्र महापुरुष नहीं हैं जो पथ-भ्रष्ट, विवेक-भ्रष्ट और प्रमत्त हुई मनुष्यताके सामने मानवकी सात्विकता लेकर खड़े होनेका साहस नहीं कर रहे हैं? क्या गांधी अर्थ और कामका, व्यक्ति और समाजका, अधिकार और कर्त्तव्यका, श्रम और सम्पत्तिका, ज्ञान और विज्ञानका समन्वय नीति और अध्यात्मसे स्थापित करनेका आदर्श और पथ लेकर जगतके सामने नहीं खड़े हैं? ऐसे युगमें जब मनुष्यताके सम्मुख संकट उपस्थित है, जब वह अपने पथानुसंधानमें संलग्न है और जब उसके विकासकी गति कुण्ठित हुई दिखाई दे रही है और जब अपनी रक्षाके लिए किया गया उसका सारा प्रयास किसी-न-किसी कारण विफल हुआ दिखाई दे रहा है, जब हिंसा और शस्त्रकी निरर्थकता और प्रलयंकरता अखंडनीय रूपसे सिद्ध हो चुकी, और जब यह सिद्ध हो चुका है कि पशुतासे पशुताका और हिंसा से हिंसाका निराकरण हो नहीं सकता तब गांधी एक उपायकी ओर संकेत कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि जगतके लिए उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं। आज नहीं तो कल विश्वको किसी-न-किसी रूपमें उस भित्तिको अपनाना ही होगा जिसे गांधीजी उपस्थित कर रहे हैं।